१८

वर्ष ३३] * * * [अङ्क ११

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०१६, नवम्बर १९५९

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें .४५
विदेशमें .५६
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
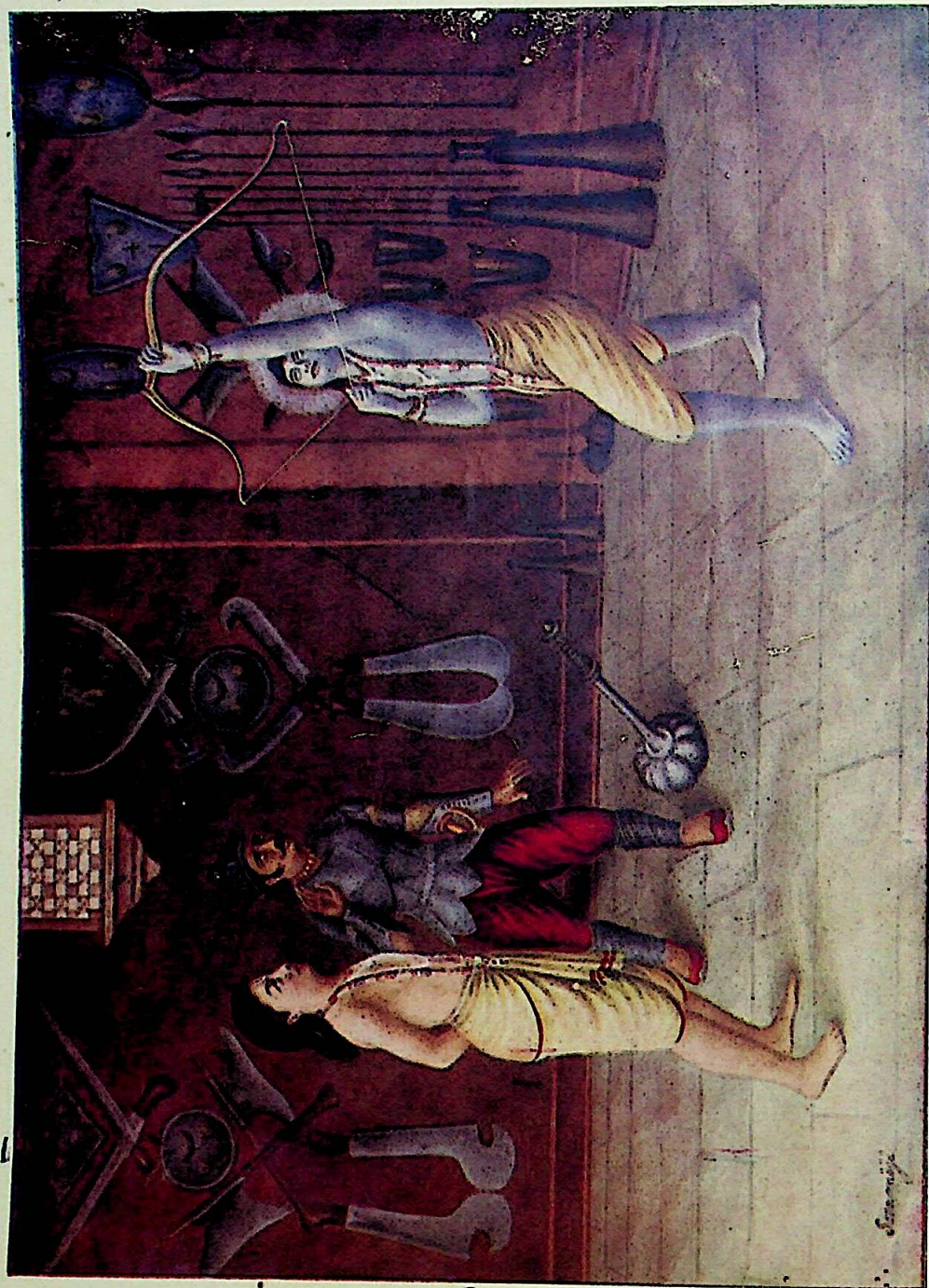
कंसकी धनुषशालामें श्रीकृष्णके द्वारा धनुष-भङ्ग

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
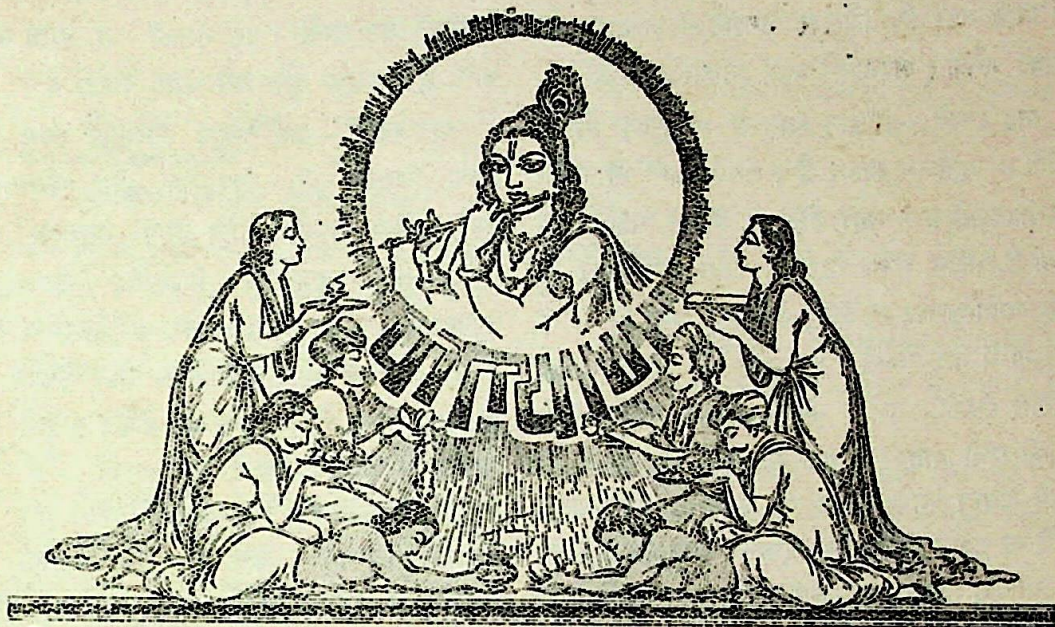
लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम्।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१६, नवम्बर १९५९ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ३९६

कंसकी धनुषशालामें श्रीकृष्णके द्वारा धनुषभङ्ग

मथुरामें सानन्द पधारे श्रीबलराम और घनश्याम।
परम मनोहर, परम शक्तिधर, तेजपुञ्ज दोनों अभिराम॥
पहुँचे कंस-धनुषशालामें नेत्र-चित्तहर सहज अकाम।
अनायास हैं तोड़ रहे अति विकट धनुष हरि शोभाधाम॥

याद रक्खो—ऐसा कोई स्थान नहीं है और ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें भगवान् न हों एवं ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसपर भगवान्की कृपा न हो, जिसको भगवान् अपनानेसे कभी इनकार करते हों।

याद रक्खो—भगवान् स्वभावसे ही सुहृद् हैं, वे कृपाके ही मूर्तिमान् स्वरूप हैं। उनमें किसी भी पापीके प्रति कभी घृणा नहीं होती। किसने पहले क्या किया है, कौन कैसा रहा है, किस देश-वेषका है, किस जाति-कुलका है, किस धर्म-सम्प्रदायका है,—यह कुछ भी वे नहीं देखते। वे देखते हैं—केवल उसके वर्तमान मनको, उसके मनकी वर्तमान परिस्थितिको, उसकी सच्ची चाहको। कोई भी, कहीं भी, किसी भी समय अनन्य मनसे उनकी चाह करता है; उनकी कृपा, प्रीति या दर्शन पानेके लिये एकान्त लालायित हो जाता है, भगवान् उसके इच्छानुसार उसपर कृपा करते, उसे प्रीतिदान करते या दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं।

याद रक्खो—संसारके भोग पहले तो इच्छानुसार प्राप्त नहीं होते, प्राप्त भी अधूरे ही होते हैं और प्राप्त होकर निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं; परंतु अनन्य इच्छा करनेपर भगवान् निश्चय ही प्राप्त होते हैं, इच्छानुसार कृपा, प्रेम या दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं, वे सर्वत्र सदा पूर्णतासे परिपूर्ण हैं तथा प्राप्त होकर कभी बिछुड़ना उनके स्वभावसे विरुद्ध है।

याद रक्खो—मानवशरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है। भोगोंके लिये तो अन्यान्य समस्त योनियाँ हैं ही। यह तो मिला है केवल परमशान्तिमय परमानन्दमय नित्य शाश्वत अखण्ड चिदानन्दमय भागवत-जीवनकी प्राप्तिके लिये। यह जीवन ही दिव्य-जीवन है—भगवत्प्राप्ति है। इसीको जीवनका परम लक्ष्य—एकमात्र लक्ष्य बनाकर इसीकी प्राप्तिके प्रयासमें सदा संलग्न रहना मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इस कर्तव्यसे विमुख मनुष्यका भविष्य निश्चय ही अत्यन्त अन्धकारमय है, भले ही वह (तथा जिस समाजमें वह रहता है—वह समाज भी) अपनेको समुन्नत, सुखी तथा ज्ञानोज्ज्वल स्थितिको प्राप्त समझे। पर उसकी यह समझ सर्वथा भ्रान्त है। उसकी बुद्धि उसे धोखा दे रही है!

याद रक्खो—जब तुम्हारे जीवनका लक्ष्य भोग होगा भगवान् नहीं; विषय-सुख होगा भागवत-सुख नहीं; लौकिक विषयोंकी प्राप्ति होगी भगवान्की प्राप्ति नहीं;—तब सहज ही भोगासक्ति, भोग-कामना, कामना-सिद्धिजनित लोभ, कामना-असिद्धिजनित क्रोध, ममता, अभिमान आदि दोष उत्पन्न होकर तुम्हारे सारे जीवनको भ्रान्त और अशान्त कर देंगे। तुम्हारी बुद्धि विपरीत निर्णय करनेवाली बन जायगी और भोग-परायण मन-इन्द्रियके इच्छानुसार विषयोंकी ओर तुम्हें प्रेरित करने लगेगी। उस समय तुम अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्तव्य, बुरेको भला, विपत्तिको सम्पत्ति और अन्धकारको प्रकाश मानने लगोगे और इसके परिणामस्वरूप तुम्हारा जीवन तमोमय, अशान्तिमय, दुःखमय, चिन्तामय, ज्वालामय बन जायगा। परलोक भी बिगड़ जायगा। भगवान्की प्राप्ति तो होगी ही नहीं। तुम अशान्तिमय जीवन बिताते हुए अशान्तिमें ही मरोगे और आगे भी दुःखमय स्थितिको ही प्राप्त होते रहोगे।

याद रक्खो—मानव-जीवनके असली लक्ष्यका परित्याग करनेपर तुम्हारी यही दुर्दशा होगी। अतएव तुम तुरंत अपने जीवनका लक्ष्य स्थिर कर लो। वह परम और चरम लक्ष्य भगवान् हैं। और बड़ी सावधानीके साथ अपनी विचारधाराको, अपनी प्रत्येक चेष्टा और क्रियाको उसीकी सिद्धिके लिये जोड़ दो। तुम्हारा मानव-जीवन निश्चय ही सफल हो जायगा। जबतक जीओगे, बाहरी परिस्थिति कैसी भी हो, तुम सदा शान्ति-सुखका अनुभव करते रहोगे, सुखसे मरोगे और भगवान्को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।

'शिव'
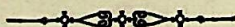
कर्तृत्व-रहस्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः ।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं-
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥

'जन्म-मृत्यु आदि षड् विकार शरीरके धर्म हैं; क्योंकि वे प्रकृतिके विकार हैं और शरीर प्रकृतिका कार्य है। वे षड् विकार इस प्रकार हैं—(१) जन्म, (२) स्थिति, (३) वृद्धि, (४) परिणाम, (५) वृद्धत्व (क्षय) और (६) मृत्यु।

'मैं तो आत्मा हूँ, इसलिये ये मेरे धर्म नहीं हैं। इसी प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् कर्तापन और कर्मका भोगना भी मेरे धर्म नहीं, ये अहंकारके धर्म हैं। मैं तो चिन्मय, शिवस्वरूप आत्मा हूँ।'

और अहंकार तो अन्तःकरणकी एक वृत्ति है। अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि अहंकारके धर्म हैं—यह बतलाकर श्रीशंकराचार्य यह निरूपण करते हैं कि ये धर्म अन्तःकरणके हैं, चिन्मय आत्माके नहीं।

जब भगवान् स्वयं कहते हैं—'गहना कर्मणो गतिः।' यानी कर्मकी गति ऐसी गहन—अटपटी है कि मानव-बुद्धि उसका पार नहीं पा सकती। तथापि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्मका रहस्य समझना अनिवार्य है; क्योंकि जबतक कर्मासक्ति बनी है, तबतक बुद्धि निर्मल नहीं होती और जबतक बुद्धि निर्मल नहीं होती, तबतक ज्ञान स्थिर नहीं होता। इसलिये प्रत्येक साधकके लिये यथाशक्ति कर्मका रहस्य समझ लेना आवश्यक है। और कर्म कैसे सम्पादित होता है, यह यदि ठीक-ठीक समझमें आ जाय तो फिर कर्तृत्व—कर्ता कौन है, यह समझना कठिन नहीं रह जाता।

यह समझनेके लिये केनोपनिषद्की आख्यायिकापर एक दृष्टि डालिये। उसका सार इस प्रकार है—

देव-दानव-युद्धमें परमात्माके ही सामर्थ्यसे देवता विजयी हुए; परंतु देवतालोग विजयके हर्षसे इतने मोहित हो गये कि परमात्माको ही भूल गये; और हमको हमारी ही शक्तिसे यह विजय प्राप्त हुई है—ऐसा गर्व करने लगे।

परमात्माका एक नाम गर्व-गञ्जन है। वे किसीके गर्वको सहन नहीं करते; अतएव देवताओंका गर्व उतारनेके लिये उन्होंने स्वयं एक अति विचित्र यक्षका रूप धारण करके अपने आपको अन्तरिक्षमें प्रकट किया।

देवता उस स्वरूपको देखकर डर गये। इसलिये इन्द्रने अग्निदेवसे कहा—'जरा जाओ और पता लगाओ कि यह क्या दीखता है।'

अग्निदेव एकबारगी अभिमानपूर्वक उठे और सीधे यक्षके पास पहुँचे। यक्षने पूछा—'तुम कौन हो? और तुम्हारे अंदर क्या सामर्थ्य है?'

अग्निदेवने अति गर्वसे उत्तर दिया कि 'मैं सर्वज्ञ अग्निदेव हूँ और किसी भी वस्तुको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

यक्षने एक तृण अग्निदेवके सामने डाल दिया और कहा—'इसको जला डालो।'

अग्निदेवने अपना सारा जोर आजमाया; पर वे तृणको जला नहीं सके, इस कारण लजाकर लौट आये और इन्द्रसे बोले—'वह क्या है, यह मैं जान न सका।'

तब इन्द्रने सर्वत्र विचरण करनेवाले वायुदेवसे कहा—

'तुम जाओ और यह पता लगाकर आओ कि वह क्या दीखता है।' वायुदेव गये और यक्षके सामने खड़े हो गये। यक्षने तुरंत पूछा—'तुम कौन हो और तुममें क्या शक्ति है?' वायुदेव भी गर्वसे बोले—'मैं सर्वत्र गमन कर सकनेवाला देव हूँ और मैं किसी भी वस्तुको उड़ा सकता हूँ।'

यक्षने फिर वही तृण उनके सामने रख दिया और उसको उड़ानेके लिये कहा। वायुदेवने अपना सारा बल लगा दिया, पर उस तृणको उड़ा न सके। इसलिये लज्जित होकर लौट आये और इन्द्रसे कहा—'मैं भी न जान सका कि वह कौन है।'

ये दो अति समर्थ देवता जब निराश होकर लौट आये, तब सब देवताओंकी दृष्टि इन्द्रपर गयी और सबने निवेदन किया कि आप ही अब जाकर पता लगाइये कि वह दीख पड़नेवाला है कौन। आपके बिना दूसरेसे यह काम न हो सकेगा।

इन्द्र जैसे ही यक्षके सामने जानेके लिये चले, वैसे ही वह यक्ष अदृश्य हो गया । वे विचार कर ही रहे थे कि अब क्या करें; इतनेमें ही उमा माता उनके सामने प्रकट हो गयीं । इन्द्रने हाथ जोड़कर माताजीसे पूछा—'जगदम्बे ! यह यक्ष जो दीखता था, क्या था ?'

माताजी बोलीं—'क्या तुमने उन्हें नहीं पहचाना ? वे स्वयं परमात्मा और तुम्हारा गर्व उतारनेके लिये प्रकट हुए थे । अग्निमें जो जलानेकी शक्ति है तथा वायुमें जो उड़ानेकी शक्ति है, वह परमात्माकी ही शक्ति है । परमात्माने जब अपनी शक्ति खींच ली, तब न तो अग्नि एक तृण जला सके और न वायु उस तृणको उड़ा सके । परमात्माकी शक्तिसे ही सब शक्तिशाली बनते हैं, इसलिये अपनी शक्तिका गर्व करना व्यर्थ है । और शक्ति प्रदान करनेके बदलेमें परमात्माके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये, यह समझानेके लिये ही परमात्मा प्रकट हुए थे ।'

इसलिये यहाँ परमात्माकी शक्तिसे ही सारे कर्म सम्पादन होते हैं, अतः कर्त्ताको कर्तृत्वका श्रेय अपने ऊपर लेना ही नहीं चाहिये—यही समझना है ।

बढ़ई बँसुलेसे लकड़ीको गढ़ता है और रंदेसे उसको साफ करता है । यदि बँसुला और रंदा यह कहे कि इस लकड़ीको हमने गढ़ा और साफ किया है तो उनकी बात कोई भी समझदार मनुष्य नहीं मानेगा । इसी प्रकार यदि थोड़ा गहरा विचार करें तो समझमें आ जायगा कि जैसे बँसुला और रंदा बढ़ईके साधन थे, लकड़ी गढ़नेका काम तो बढ़ई ही करता था, उसी प्रकार वह भी सृष्टिकर्त्ताके हाथका एक साधनमात्र है; क्योंकि वह ईश्वरकी दी हुई शक्तिके द्वारा ही अपना कार्य सम्पादन कर सकता है ।

स्मृतिमें भी अनेकों स्थलोंमें ईश्वरका ही कर्त्ताके रूपमें वर्णन किया गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।

(गीता १० । ८)

'मैं सबकी उत्पत्ति करनेवाला हूँ, अतः मुझसे ही—मेरी शक्तिके द्वारा ही कर्ममात्र सम्पादित होते हैं ।'

पुनः—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गीता १८ । ६१)

'ईश्वर प्राणिमात्रके हृदयप्रदेशमें रहकर—जैसे यन्त्री यन्त्रस्थ पुतलियोंको घुमाता है, उसी प्रकार अपनी मायाके द्वारा प्राणीमात्रको चेष्टावान् बनाता है और संसारचक्रमें घुमाता है ।'

इसलिये यहाँ भी, ईश्वर ही सर्व कर्मोंका कर्त्ता है, मनुष्य तो उसके हाथका यन्त्रमात्र है, यह बतलाया । यन्त्र जैसे यन्त्रीके हाथका साधन है, उसी प्रकार मनुष्य भी ईश्वरके हाथका साधनमात्र है । इसलिये 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा अभिमान करना समझदार आदमीके योग्य नहीं है ।

यहाँ एक बात समझने योग्य है । श्रुतिकी आख्यायिकामें ब्रह्म या परमात्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा गीतामें 'श्रीकृष्ण' और 'ईश्वर' शब्दोंका प्रयोग हुआ है । श्रीभागवतकार कहते हैं—

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।

ब्रह्म कहिये, परमात्मा कहिये, अथवा भगवान्, ईश्वर या श्रीकृष्ण कहिये—ये एक ही चेतन सत्ताके केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं, भिन्न-भिन्न शब्द-प्रयोग हैं, जैसे विश्वनाथ, नीलकण्ठ या वृषभध्वज एक ही महादेवके विभिन्न नाम मात्र हैं ।

परंतु गीतामें मुख्यतया प्रकृतिको या प्रकृतिके गुणोंको ही कर्ता कहा गया है, आत्मा या परमात्मा तो अकर्ता हैं—ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

(३ । २७)

सारे कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा ही सम्पादित होते हैं, परंतु अहंकारसे मूढ़ बना हुआ आत्मा, दृढ़ देहाध्यासके कारण अपनेको शरीररूप मानकर जीवसंज्ञाको प्राप्त आत्मा 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकारका मिथ्या अभिमान करता है । पुनः—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

(१३ । २९)

अर्थात् जो मनुष्य, सब प्रकारके कर्म प्रकृतिद्वारा ही होते हैं—इस प्रकार देखता है और इस कारण आत्माको अकर्ता अनुभव करता है, उसकी दृष्टि यथार्थ है । तथा,

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

× × ×

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(५ । ८-९)

मैं कोई भी कर्म नहीं करता—आत्मा कुछ भी नहीं करता; केवल इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं, यों तत्त्ववित् योगी मानते हैं। यों केवल मुँहसे कह देने मात्रका कुछ भी अर्थ नहीं है। इस प्रकार कहनेका अधिकार उसीको है, जो योगी है तथा तत्त्वज्ञानी भी है। पुनः;

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(१४ । १९)

'गुणोंके अतिरिक्त कर्मका कर्ता दूसरा कोई नहीं है—जब द्रष्टा यह अनुभव करता है, देखता है और अपनेको गुणोंसे परे, शरीरसे भिन्न समझता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है—भगवद्रूप हो जाता है।'

इन सब दृष्टान्तोंसे हमने देख लिया कि सारे कर्म प्रकृति या उसके गुणोंद्वारा ही सम्पादित होते हैं।

अब यहाँ एक बात समझने योग्य है। गीतामें जहाँ-जहाँ बतलाया गया है कि प्रकृतिसे या उसके गुणोंसे ही कार्य-सम्पादन होता है; वहाँ-वहाँ यह समझना चाहिये कि प्रकृति या उसके गुणोंका कार्य यह शरीर है, इसीको कर्मका कर्ता समझना चाहिये, अर्थात् शरीरके द्वारा ही कर्मसम्पादन होता है—यों समझना चाहिये ।गीता अ० १४ । २०में भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि शरीर गुणोंका कार्य है। ('शरीर' शब्दसे यहाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर समझने चाहिये।)

परमात्मा चेतनस्वरूप है और शरीर लोहे या काष्ठके समान जड है। तब फिर दोनोंमें कर्तृत्वका आरोपण कैसे हो सकता है ? इन दो परस्पर-विरुद्ध दीख पड़नेवाली बातोंका समन्वय करनेके लिये शरीरकी रचना समझनी चाहिये। उसके समझनेके बाद कर्तृत्वका रहस्य बहुत ही आसानीसे समझमें आ जायगा।

एक मनुष्य मर जाता है, तब क्या होता है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं और कहते भी हैं कि अमुक मनुष्यके प्राण निकल गये। अर्थात् मनुष्य जब मृत्युको प्राप्त होता है, तब उसके प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं—यह सबके अनुभवकी बात है। प्राण निकल जानेपर मृत देहको हम जला देते हैं या दफना देते हैं; क्योंकि ऐसा न करें तो वह सड़ने लगे और उसकी दुर्गन्ध जीवित मनुष्यको सहन न हो। इतना ही नहीं, बल्कि उनसे बीमारी फैलती है—इसलिये किसी भी रीतिसे मृत शरीरको पञ्चमहाभूतोंमें मिला देनेकी व्यवस्था है।

जब प्राण शरीरको छोड़कर निकल जाते हैं, तब दूसरे तत्त्व भी उसके साथ चले जाते हैं; परंतु अति सूक्ष्म होनेके कारण उनका ज्ञान किसी भी इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होता। वे तत्त्व हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ अन्तःकरण। प्राण पाँच होते हैं और वे सारे शरीरमें अपने-अपने स्थानमें रहते हैं। उनके साथ उपर्युक्त ग्यारह तत्त्वोंको मिलाकर कुल सोलह तत्त्व शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। इन सोलह तत्त्वोंके समूहको 'सूक्ष्मशरीर' नाम दिया जाता है।

यह सूक्ष्मशरीर भी प्रकृतिका कार्य होनेके कारण स्वभावतः जड है। परंतु यह न तो स्थूलशरीरके-जैसा जड है, न आत्माके समान स्वतः चैतन्य ही है, बल्कि मध्यवर्ती है। इसमें भी अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक अंशका कार्य होनेके कारण अति सूक्ष्म है और इस कारणसे वह आत्माके प्रकाशको ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार अन्तःकरण आत्माके प्रकाशको संक्रान्त करके स्वयं शक्तिशाली बनकर, प्राणों तथा इन्द्रियोंमें शक्ति भरकर सारे स्थूलशरीरको भी चेतन बनाता है। यों जबतक सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरमें रहता है, तभीतक स्थूलशरीर जीता रह सकता है; और जब सूक्ष्मशरीर उसको छोड़कर चला जाता है, तब वह मुर्दा कहलाता है। यह बात बिजलीके दृष्टान्तसे ठीक-ठीक समझी जा सकती है

बिजलीका बल्ब तो सभी देखते हैं। बाहरी भागमें एक काँचका बंद गोला होता है, उसके भीतर एक चक्कर-सा होता है। बिजली जब इस बल्बमें आती है, तब उसके प्रकाशको वह चक्कर ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार पहले तो वह चक्कर बिजलीकी शक्तिसे प्रकाशमान होता है और वह प्रकाश ऊपरके काँचके गोलेमें फैलता है और उस गोलेको भी प्रकाशमान बना देता है तथा तब उसके द्वारा बाहर उजियाला हो जाता है।

बिजलीकी बत्तीमें जैसे चक्कर बिजलीके प्रकाशको ग्रहण करके बाहरके गोलेको प्रकाशमान करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण आत्माके प्रकाशको ग्रहण करके स्वयं प्रकाशमान बनकर प्राण और इन्द्रियोंके द्वारा स्थूलशरीरको प्रकाशमान बनाता है। अब यदि किसी कारणसे यह चक्कर खराब हो जाय तो बिजलीका प्रकाश बाहरके गोलेमें नहीं दीख पड़ेगा; क्योंकि उसमें बिजलीके प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं रही

इसी प्रकार सूक्ष्मशरीर जब स्थूलशरीरको छोड़कर चला जाता है, तब उसमें आत्माका प्रकाश नहीं दीखता; क्योंकि स्थूलशरीरमें उस प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं होती।

अब यहाँ इन्द्रियोंके विषयमें कुछ समझ लेना है; क्योंकि शिक्षित लोग भी यहाँ भूल कर बैठते हैं। एक विद्वान् सज्जनने मुझसे एक दिन पूछा था कि इन्द्रियाँ भी प्राणके साथ चली जाती हैं, यह बात कैसे मानी जाय। हम तो उनको शरीरके साथ ही जला या दफना देते हैं। शरीरके नाशके साथ आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियोंका नाश हो जाता है—यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं; तब फिर यह कहनेका अर्थ क्या है ?

यहाँ ही मनुष्य भूल करता है। शरीरके ऊपर—स्थूलशरीरमें जो ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं, वे तो इन्द्रियोंके रहनेके स्थान हैं। आँखका अवयव देखनेवाली इन्द्रिय नहीं है, परंतु वह तो उसके रहनेका नियत स्थान है। इसी प्रकार कानके अवयवको सुननेकी इन्द्रियका, नाकके अवयवको सूँघनेकी इन्द्रियका निवास-स्थान मानना चाहिये और पैरके अवयवको पाद-इन्द्रियका, हाथके अवयवको हस्त-इन्द्रियका निवासस्थान समझिये। जिस प्रकार अपने रहनेके घरसे हम पृथक् वस्तु हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने रहनेके स्थानसे पृथक् वस्तु हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्मशक्तिमात्र हैं, पर उनके रहनेके स्थान जड शरीरमें होनेके कारण जड हैं और वे शरीरके साथ नाशको प्राप्त होते हैं। अब हम समझ सकेंगे कि कोई भी कर्म किस प्रकार सम्पादित होता है। इस रहस्यको समझानेवाली एक लघु बालवार्ता है, उसे देखिये—

देखा दोने स्पष्ट पेड़से
गिरते दो सुन्दर-से आम।
दौड़े नहीं उन्हें लेने वे,
दौड़े दो दूसरे सकाम॥
दौड़े, लिये नहीं उनने,
यह किया दूसरे दोने काम।
लेनेवालोंने खाया नहिं,
खाये अन्य एकने आम॥

यह बात बचपनकी सुनी हुई है, पर इसका रहस्य आज समझमें आता है। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ५। ८-९ को समझानेके लिये इसमें प्रयास किया गया है, ऐसा लगता है।

आमके दो फल गिरे, उनको दो आँखोंने देखा। उन फलोंको लेनेके लिये आँखें कभी जा नहीं सकतीं, इसलिये दो पैर उनको लेनेके लिये दौड़े। परंतु पैर तो फलोंको उठा नहीं सकते थे, इसलिये दोनो हाथोंने उनको ले लिया। अब फल खानेका काम हाथोंसे बनता नहीं, इसलिये वह काम एक मुँहने किया। इस वार्ताको और अधिक बढ़ायें तो कह सकते हैं कि मुँह उनके स्वादका अनुभव नहीं कर सकता, इसलिये स्वादका अनुभव जीभने किया और उससे तृप्तिका अनुभव हुआ प्राणको और इन सारी क्रियाओंका आनन्द भोगा अन्तःकरणने; इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियने अपना-अपना कार्य किया, आत्मा तो केवल द्रष्टारूप (देखनेवाला) ही बना रहा।

एक दूसरा दृष्टान्त लीजिये। हम भोजन करने बैठते हैं, तब थाली स्थूलशरीरके सामने रखी जाती है, हाथ उसमेंसे ग्रास लेकर मुँहमें डालता है, दाँत चबानेका काम करते हैं, जीभ स्वादका अनुभव करती है, प्राण प्रत्येक ग्रासमें तृप्तिका अनुभव करते हैं और अन्तःकरण इन सारी क्रियाओंका संचालन करता हुआ आनन्द भोगता है। इसके बाद नैसर्गिक व्यापार चालू होता है, जिसमें अन्तःकरणकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं पड़ती। भोजन जब पाकस्थलीमें पहुँचता है, तब वहाँ एक प्रकारकी रासायनिक क्रिया होती है, वह भोजन वायुके द्वारा आगे ढकेला जाता है, अँतड़ियाँ उसका रस चूस लेती हैं और वह रस छहों धातुओंमें फैलता हुआ अन्तमें बत्तीस दिनोंमें वीर्य बनता है। रस चूसे जानेके बाद प्रवाही भाग पेशाबके द्वारा और ठोस भाग दस्तके द्वारा बाहर निकल जाता है। एक भोजनकी क्रियामें इतने सब अवयव अपना-अपना काम करते हैं। आत्मा तो इन सारी क्रियाओंको साक्षीरूपसे देखनेवाला है।

यहाँतक हमने देख लिया कि अन्तःकरण ही सारे कर्मोंका सम्पादन करता है। आत्मा तो केवल निरपेक्ष भावसे इन सारी क्रियाओंको देखता रहता है। अन्तःकरण आत्माके प्रकाशको ग्रहण करके स्वयं शक्तिमान् बनता है और सारे शरीरको चेतन बनाता है—यह भी हमने देख लिया और बिजलीके दृष्टान्तसे ठीक-ठीक समझ लिया।

अब अन्तःकरण किस प्रकार अपना कार्य सम्पादन करता है, यह एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये; इससे उसका कर्तृत्व समझमें आ जायगा।

हमको एक कुर्सी बनवानी है, उसके लिये एक बढ़ईको बुलवाया। बढ़ईने आकर अपनी थैलीमेंसे विविध औजारोंको बाहर निकाला और सजाकर रख दिया। उस बढ़ईको यदि लकड़ी गढ़नी होती है तो बँसुलेसे उसको गढ़ता है और उसको चिकना करना होता है तो रंदेसे चिकना करता है; लकड़ीको चीरना होता है तो आरेसे चीरता है; छेद करना होता है तो बरमेका प्रयोग करता है और काँटी ठोंकनी होती है तो हथौड़ेको काममें लेता है। इस प्रकार बढ़ई विभिन्न कामोंके लिये विभिन्न औजारोंका प्रयोग करता है और कुर्सी तैयार कर देता है।

इसी प्रकार अन्तःकरणको देखना होता है तो आँखका उपयोग करता है और सुनना होता है तो कानका; शरीरको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना होता है तो पैरका उपयोग करता है और लेना-देना होता है तो हाथका; गन्ध लेनी होती है तो नाकका उपयोग करता है, रसके ज्ञानके लिये जीभका। इस प्रकार विभिन्न कार्योंके लिये उसके पास भी बढ़ईके समान विभिन्न साधन हैं और प्रत्येक साधनका यथायोग्य उपयोग करनेमें वह स्वतन्त्र है। इस प्रकार अन्तःकरण कर्मका कर्त्ता हुआ और इन्द्रियाँ उसके कर्म करनेमें साधन बनीं।

इस प्रसङ्गको श्रीशंकराचार्यने इस प्रकार समझाया है—

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः।
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः॥

अर्थात् चेतनस्वरूप आत्माका प्रकाश प्राप्तकर देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि अपना-अपना व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं, जैसे सूर्यके प्रकाशके आश्रयसे मनुष्य अपना व्यवहार करनेमें समर्थ होता है। मन और बुद्धि तो अन्तःकरणकी दो वृत्तियाँ हैं। इसी बातको अधिक ब्यौरेवार समझना हो तो यों समझिये कि अन्तःकरण आत्माके चैतन्यको प्राप्त करके इन्द्रियों तथा प्राणोंमें चेतना भर देता है और स्थूल शरीरके द्वारा सारा व्यवहार करनेमें समर्थ होता है।

जैसे सूर्य किसीका हाथ पकड़कर उसको व्यवहारमें नहीं लगाता, उसी प्रकार आत्मा भी किसीको व्यवहारमें नहीं लगाता। उसका काम तो सूर्यके समान प्रकाश देनामात्र है। प्रवृत्ति तो अपने-अपने स्वभाव या प्रकृतिके अनुसार हुआ करती है। आत्मा न कुछ करता है न कराता है। केवल 'स्वभावस्तु प्रवर्तते।'

अब यदि अन्तःकरण कर्मका कर्त्ता है तो किये हुए कर्मका फल भी उसीको भोगना चाहिये। यह तो हो नहीं सकता कि कर्म कोई करे और फल कोई भोगे। जैसे मगनलाल माल मँगाये और जयन्तीलाल जकात दे, यह नहीं हो सकता। जो माल मँगाता है उसीको जकात देनी पड़ती है। इसलिये अन्तःकरण कर्म करता है तो उसका फल भी उसीको भोगना पड़ेगा और होता भी यही है। ईश्वरकी सृष्टिमें अन्याय नहीं हो सकता।

यह बात अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे समझी जा सकती है। जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अन्तःकरण उपस्थित रहता है, इसलिये इन दोनों अवस्थाओंमें सुख-दुःखका अनुभव होता है। जब सुषुप्ति अवस्थामें अन्तःकरण लीन हो जाता है, उस समय कार्यसम्मुख न होनेके कारण सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार अन्तःकरणमें कर्तृत्वपन है, इसलिये उनके फलका भोक्तृत्व भी उसीमें है।

अब कर्मका फल भोगनेके लिये तो अनेक शरीर चाहिये, इसलिये अन्तःकरण कर्मभोगके अनुसार उच्च-नीच जातिके शरीरोंको धारण करता है, अर्थात् अच्छी-बुरी योनियोंमें भ्रमण भी अन्तःकरणका ही होता है।

इन सारे प्रसङ्गोंमें अन्तःकरण शब्दसे सारा सूक्ष्मशरीर समझना चाहिये; क्योंकि सूक्ष्मशरीरमें असली कार्य तो अन्तःकरणका ही होता है और उससे प्राप्त किये हुए चैतन्यसे ही सूक्ष्मशरीर कार्य करनेमें समर्थ होता है। एक रूपकसे यह बात इस प्रकार समझायी जा सकती है। इन्द्रियाँ रथरूप हैं और प्राण गतिशील होनेके कारण उस रथके घोड़ेके रूपमें है, अन्तःकरण राजाके समान उस रथमें बैठकर सारा व्यवहार करता है।

आत्मा तो निरपेक्षभावसे यह सब कुछ देखता है। परंतु ईश्वरकी मायाके कारण आत्मा अपने स्वरूपको भूल जाता है और इस कारण अन्तःकरणके कर्तृत्वको स्वयं अपने सिरपर ले लेता है तथा फलस्वरूप उन कर्मोंके फलका भोक्ता भी अपनेको मान लेता है। इसी कारण वह जीवभावको प्राप्त होता है और देहाध्यास दृढ़ हो जानेके कारण स्थूल-शरीरके जन्म-मरणको अपना मानकर जन्म-मरणका दुःख भोगता है तथा सूक्ष्मशरीरके ऊँची-नीची योनियोंमें भटकनेको अपना भ्रमण मानकर भवाटवीमें भ्रमता रहता है।*

* इसी अपनेको कर्ता-भोक्ता माननेवाले प्रकृतिस्थ पुरुष

यहाँ कुछ विवेकी सज्जन प्रश्न करते हैं कि 'परमात्म-स्वरूप आत्मामें जीवभाव आता है किस प्रकार ?' इसका ऐसा कोई उत्तर नहीं हो सकता, जिससे सबका समाधान हो जाय। रुचिके अनुसार विभिन्न प्रकारसे यह बात समझायी गयी है। उसके कुछ नमूने देखिये—

(१) स्वतत्त्वाग्रहणादेव जीवत्वव्यपदेशभूः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्ये क्रीडतीह पुरत्रये ॥
(श्रुतिः)

'अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जानेके कारण आत्मा जीवभावको प्राप्त होकर संसृति-चक्रमें भ्रमता है।'

(२) आत्मनो जायते विश्वमात्मन्येव विलीयते।
आत्माऽऽत्ममायया बद्धो बिभर्ति विविधास्तनूः ॥
(श्रुतिः)

'आत्मासे ही विश्व उत्पन्न होता है और उसीमें लीन हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अपनी ही मायासे बँधकर विविध शरीरोंको धारण करता है, संसृतिमें घूमता है।'

(३) जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।
(गीता ७। ५)

'अपरा प्रकृति अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीर तथा परा प्रकृति चैतन्य। इन दोनोके संयोग मात्रसे आत्मामें जीवभाव आता है और इसीसे यह भवचक्र चलता रहता है।' यही यहाँ तात्पर्य है।

(४) यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्र दुरीहया।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥
(योगवासिष्ठ)

'शूद्र स्त्रीकी कामनासे एक विप्र जैसे शूद्रप्राय बन जाता है, उसी प्रकार ईश्वररूप आत्मा अन्तःकरणके भोगमें आसक्त होकर तद्रूप बन जाता है—जीवभावको अङ्गीकार कर लेता है।'

(५) रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः ॥
(अद्वैतपञ्चक—शङ्कराचार्य)

(जीवत्व-प्राप्त चेतन) को लक्ष्य करके गीतामें कहा गया है—
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(१३। २१)

रस्सीका ज्ञान न होनेसे जैसे रस्सी सर्परूपमें भासती है, उसी प्रकार निजस्वरूपका ज्ञान न होनेसे (स्वरूपकी विस्मृति होनेसे) आत्मामें जीवभाव आ जाता है।

इसी कारण शास्त्र अविद्याको अनिर्वचनीय कहते हैं। इसका अर्थ 'अज्ञेय' अर्थात् जाना न जा सके—ऐसा नहीं है। बल्कि मन-वाणीसे 'इदंतया' अर्थात् 'ऐसा ही है'—यह निर्वचन नहीं हो सकता। इसीसे अनिर्वचनीय कहलाता है। इसलिये किसी अचिन्त्य रीतिसे या अतर्क्य रीतिसे, किसी अलौकिक या अद्भुत रीतिसे या किसी चमत्कारिक रीतिसे आत्मामें जीवभाव आ जाता है, ऐसे अपने मनका समाधान कर लेना श्रेयस्कर है। अतएव कल्याणकामी साधक इस झगड़ेमें नहीं उतरते कि वह कैसे आता है, बल्कि उसकी निवृत्ति करनेके लिये प्रयत्नशील हो जाते हैं; क्योंकि इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। कारण, जीवभावकी निवृत्ति ही मोक्ष कहलाती है। पातञ्जल-योगसूत्र भी कहता है—

स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यम्।

"जीवभावकी निवृत्तिके द्वारा आत्माको उसके स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेका नाम ही आत्माका 'कैवल्य' या 'मोक्ष' है।"

एक कविने जीवकी व्याख्या इस प्रकार की है—

कर्ता भोक्ता देह मैं, यही जीवका रूप।
जब आपे कर्ता नहीं, केवल शिवस्वरूप ॥

भाव यह है कि कर्ता-भोक्ता तो शरीर है, पर आत्मा भ्रमसे अपनेको शरीर मानकर स्वयं कर्ता-भोक्ता बन जाता है। परंतु यदि सद्गुरुकी कृपासे यह समझमें आ जाय कि मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ तो आत्मा तो परमात्मारूप है ही, इसमें कुछ करना नहीं है। इसलिये कर्ता-भोक्तापनके भ्रमकी निवृत्ति मात्रसे आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

पहले हमने उपनिषद्की आख्यायिकासे यह निरूपण किया कि परमात्माकी शक्तिसे ही सारे कर्म सम्पादित होते हैं; क्योंकि उसके सिवा दूसरी कोई चेतन शक्ति नहीं है, जिसकी सामर्थ्यसे कर्म हो सके। तत्पश्चात् भगवद्गीताका उल्लेख करके हमने यह बतलाया कि सारे कर्म शरीरसे होते हैं और मोहके वश होकर आत्मा अपनेको भ्रमसे कर्ता मानता है तथा हमने यह बतलाया कि शरीर तो

जड है, वह कैसे कर्म कर सकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें इस निबन्धमें विस्तारपूर्वक विचार किया गया कि अन्तःकरण स्वभावसे जड होनेपर भी सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरद्वारा कर्म करता है और कर्मका फल भी वही भोगता है तथा उच्च-नीच योनियोंमें भ्रमण भी वही करता है। इसलिये शरीर ही कर्मका कर्त्ता है, यह गीताकी बात यथार्थ है।

अब यह देखना है कि परमात्माको कर्त्ता माननेसे क्या होता है। परमात्मा चेतनस्वरूप है और सत्तामात्र है। उसकी सत्तासे ही यह सारा विश्व-व्यवहार चल रहा है। तथापि परमात्मा बढ़ईके समान या अन्तःकरणके समान विविध साधनोंसे अपना कार्य नहीं करता। उसके कर्म करनेका कोई प्रयोजन न होनेके कारण परमात्मा सर्वकर्ता होनेपर भी अकर्ता ही है तथा सर्वभोक्ता होनेपर भी अभोक्ता ही है।

परमात्माके सांनिध्यमात्रसे प्रकृति सामर्थ्यवती बनती है और वही संसारचक्रको चालू रखती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

'हे अर्जुन! मेरा आश्रय लेकर प्रकृति जड-चेतन जगत्को उत्पन्न करती है और इसी कारणसे इस विश्वका व्यापार अनवरत चलता रहता है।'

इस सम्पूर्ण निबन्धका सार इतना ही है कि कर्ममात्र प्रकृति या उसके गुणोंसे अर्थात् शरीरसे सम्पादित होता है और इस कारणसे आत्माको शरीरका कर्तृत्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। परमात्माके सांनिध्यमात्रसे प्रकृति अपना कार्य कर सकती है, अर्थात् परमात्माकी शक्तिके द्वारा ही सारे कर्म हो सकते हैं। इसलिये कर्तापनका अभिमान नहीं रखना चाहिये। इस अभिमानके कारण ही भव-चक्रमें भ्रमण चालू रहता है।

भक्तकवि नरसिंह मेहताने भी कहा है—

हुँ करुँ, हुँ करुँ, ओज अज्ञान है,
शकट नो भार ज्यों श्वान ताणे;
सृष्टि मंडाण छे सर्व एनी परे,
जोगी जोगेश्वरा कोक जाणे,

अर्थात् कर्तृत्वके अहंकारसे ही जन्म-मरणरूप प्रवाह चलता रहता है, इसको कोई-कोई योगीश्वर ही समझ पाते हैं।

नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम्।

प्रभुसे प्रार्थना

मुझसे कभी किसी प्राणीका हो जाये न अहित अपमान।
सबमें तुम्हीं दिखायी दो, हो सबका मुझसे हित-सम्मान॥
दुःख मिटानेमें औरोंके, अपना सुख कर दूँ बलिदान।
बढ़ते देख दूसरोंके सुख मैं पाऊँ आनन्द महान॥
अपने छोटे-से अघको मैं मानूँ बहुत बड़ा अपराध।
कभी न देखूँ दोष पराया, गुण सबके देखूँ निर्बाध॥
घृणा करूँ मैं नहीं किसीसे, रहूँ सदा दुष्कृतसे दूर।
आने दूँ कुविचार न मनमें रक्खूँ सद्विचार भरपूर॥
बुरे संगसे बचा रहूँ नित करूँ प्रेमियोंका सत्संग।
रँगा रहे जीवन मेरा मधु पावन प्रेमभक्तिके रंग॥

लोकसंग्रहका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

लोकसंग्रह किसे कहते हैं—इसपर विचार किया जाता है। गीताके कई टीकाकार विद्वानोंने लोकसंग्रह-का अर्थ 'लोगोंको उन्मार्गसे हटाना और अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्त करना' किया है। अन्य टीकाकार कहते हैं कि लोगोंको उन्मार्गमें प्रवृत्त होनेसे निवारण करना लोकसंग्रह है। एवं कुछ टीकाकारोंने लोकसंग्रहका अर्थ लोकरक्षण या लोगोंका धर्म-परिसंग्रह भी किया है। लोकमान्य श्रीतिलकजीने लोकसंग्रहका अर्थ यों किया है—लोगोंका संग्रह करना यानी उन्हें एकत्र सम्बद्ध-कर इस रीतिसे उनका पालन-पोषण और नियमन करना कि उनकी परस्पर अनुकूलतासे उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जाय एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थितिको स्थिर रखकर उन्हें श्रेय:प्राप्तिके मार्गमें लगा देना अर्थात् अज्ञानसे मनमाना वर्ताव करनेवाले लोगों-को ज्ञानवान् बनाकर सुस्थितिमें एकत्र रखना और आत्मोन्नतिके मार्गमें लगाना—लोकसंग्रह है। 'लोक-संग्रह'के शब्दार्थपर दृष्टि डालनेसे उसका यही अर्थ व्यक्त होता है कि लोक यानी मनुष्य और संग्रह यानी उन सबको इकट्ठा करना। अभिप्राय यह कि लोगोंकी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होनेके कारण वे छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और सुखके लिये संसारमें इधर-उधर भटक रहे हैं, किंतु उनको वास्तविक सुख नहीं मिलता; इसलिये लोकहित चाहनेवाले महापुरुषोंको उचित है कि वे संसारमें भटकनेवाले मनुष्योंको सब ओरसे हटाकर एक परमात्मामें ही संग्रह करें अर्थात् उन्हींमें लगायें। वस्तुतः सिद्ध महात्मा पुरुषोंके और भगवान्‌के तो सारे कर्म स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; उनके वे लोकहितके कर्म ही साधकके लिये आदर्श साधन हैं। अतः साधक मनुष्य भी अपने आत्माके कल्याणके लिये साधनरूपमें निष्काम भावसे लोकसंग्रह कर सकता है। साधकोंको उचित है कि वे स्वयं बुरे कर्मोंको छोड़कर कल्याणकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित उत्तम कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करें; क्योंकि जो स्वयं आचरण करता है, वही दूसरों-को इस कार्यमें लगा सकता है। अर्जुन उच्चकोटिका साधक था, उसको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥
>
> (गीता ३ । २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे—इसलिये तथा लोक-संग्रहको भलीभाँति देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि समस्त प्राणियों-के भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अत:अपने वर्ण,आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार स्वयं कर्तव्यकर्मोंका निष्काम भावसे भलीभाँति आचरण करके दूसरे लोगोंको अपने उत्तम आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर सद्गुण-सदाचाररूप स्वधर्ममें लगाये रखना—इस प्रकार सृष्टिसंचालनकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना और उसे सुरक्षित बनाये रखना ही लोकसंग्रह है। आजतक बहुत-से पुरुष ममता, आसक्ति और कामना-का त्याग करके कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। अतः कल्याणकामी मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही; इसके सिवा लोकसंग्रहको देखकर

अर्थात् 'यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करके दूसरे लोग भी अपने कर्तव्यका त्याग कर देंगे, जिससे सृष्टिमें विप्लव हो जायगा और उसकी व्यवस्था बिगड़ जायगी। इसलिये सृष्टिकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये मुझे अपने कर्तव्यकर्मका पालन करना चाहिये—यह सोचकर भी कर्म करना उचित है।

इतना ही नहीं, भगवान्ने आगे जाकर अर्जुनसे यह भी कहा है कि मैंने तुमको जिस गीताशास्त्रका उपदेश किया है, उस गीताशास्त्रके मूल, अर्थ और भावोंका जो मेरे भक्तोंमें उनके हितके लिये निष्काम भावसे प्रचार करता है, उसके फलस्वरूप वह मुझको प्राप्त हो जाता है—

> **य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।**
> **भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥**
> (गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

भाव यह कि जो मनुष्य इस प्रकार लोककल्याणार्थ गीताके भावोंका प्रचार करके संसारमें भटकते हुए लोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें लगाता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधक मनुष्य भी साधनके रूपमें लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है।

यद्यपि सिद्ध ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये भगवान्ने यही बतलाया है कि उनके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—

> **यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
> **आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥**
> **नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।**
> **न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥**
> (गीता ३। १७-१८)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

ऐसा होते हुए भी, उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

> **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।**
> **कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥**
> (गीता ३। २५)

'भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रहकी इच्छा करता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

ज्ञानी महापुरुषोंकी लोकसंग्रह करनेकी यह इच्छा औपचारिक अर्थात् कथनमात्रकी ही है। जैसे जहाँ यह कहा जाता है कि 'यह नदीका तट गिरना ही चाहता है' वहाँ तटमें गिरनेकी कोई इच्छा नहीं होती, केवल उसके गिरनेकी तैयारीका ही इस रूपमें वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मामें कोई इच्छा नहीं होती, उनके द्वारा लोकहितार्थ स्वाभाविक होनेवाली प्रयत्नशीलताका ही इस रूपमें वर्णन किया गया है।

भगवान्ने ज्ञानी महात्मा पुरुषको कर्म करनेकी प्रेरणा इसीलिये की है कि वे स्वयं जैसा कर्म करते हैं और जैसा वे लोगोंमें प्रचार करते हैं, श्रद्धालु मनुष्य उनके आचरणोंके अनुसार ही अनुष्ठान किया करते हैं और उनके कथनके अनुकूल ही चलते हैं। भगवान्ने स्वयं बतलाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

वस्तुतः उच्चकोटिके महात्मा पुरुषोंके सभी आचरण विशुद्ध, लीलामात्र और कल्याणकारक हैं; अतः वे अनुकरणीय हैं। उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है। यक्षके पूछनेपर महाराज युधिष्ठिरने यही कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(महा० वन० ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ है। अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं, वह मार्ग ही असली मार्ग है।'

इसीलिये पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है—

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥
(महा० शान्ति० २५९ । २६)

'जो लोकसंग्रहसे युक्त है और जिससे धर्म तथा अर्थके सूक्ष्म तत्त्वका ज्ञान होता है, उस सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणका ही पूर्वकालमें विधाताने सबके लिये विधान किया है।'

क्योंकि गीता अ० ६ श्लोक ६ से ९ तक वर्णित सिद्ध योगियोंके लक्षण, अ० १२ श्लोक १३ से १९ तक वर्णित सिद्ध भक्तोंके लक्षण और अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक वर्णित ज्ञानमार्गसे परमात्म-प्राप्त गुणातीत महात्माके लक्षण उन सिद्ध महापुरुषोंमें स्वाभाविक ही होते हैं। उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको उपर्युक्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान्‌के तो सभी चरित्र परम पावन और लीलामात्र हैं ही। जब उच्चकोटिके महापुरुषोंके आचरणोंके अनुकरणसे ही कल्याण हो जाता है, तब फिर जो भगवान्‌के चरित्रोंके अनुकूल आचरण करते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं, उनके कल्याणके विषयमें तो कहना ही क्या है! तथा भगवान्‌की लीलाओंके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ लेनेपर तो भगवान्‌की लीलाओंके दर्शनसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है।

वास्तवमें भगवान्‌के लिये तो कोई कर्तव्य है ही नहीं। भगवान् तो आप्तकाम हैं। उनमें न कोई इच्छा है न कामना; किंतु फिर भी लोकसंग्रहके लिये अर्थात् जीवोंके परम कल्याणके लिये ही उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं, जो कि स्वार्थकी गन्धमात्र भी न होनेके कारण हेतुरहित हैं। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(गीता ३ । २२—२४)

'अर्जुन! मुझे न तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ। क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ।'

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हेतुरहित परम-दयालु भगवान् प्राणियोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये ही सारी लीलाएँ करते हैं। अतः संसारमें अधर्मके नाश और धर्मके संस्थापनरूप लोक-संग्रह कर्मके लिये ही उनका अवतार होता है। उन्होंने स्वयं बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब ही तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करने-वालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी बतलाया गया है—

विभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥
(१०।२।२९)

'आप ज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं। चराचर जगत्के कल्याणके लिये ही आप अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध दिव्य सत्त्वमय होते हैं और संत-पुरुषोंको बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टोंको उनकी दुष्टताका दण्ड देते हैं, अतः उनको वे अमङ्गल-मय लगते हैं।'

तथा—

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥
(१०।४६।३९)

'इस लोकमें उन भगवान्का कोई कर्म नहीं है; फिर भी वे श्रेष्ठ पुरुषोंके परित्राणके लिये, लीला करनेके लिये, देवादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस एवं मनुष्य आदि मिश्र योनियोंमें शरीर धारण करते हैं।'

इस प्रकार पृथ्वीपर प्रकट होकर लीला करना ही उनका जन्म और कर्म है। उनके जन्म और कर्म दिव्य होते हैं। जो मनुष्य भगवान्के जन्म और आचरणके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

फिर जो मनुष्य भगवान्के अनुसार ही आचरण करता है, उसका कल्याण हो जाय, इसके विषयमें, तो कहना ही क्या है।

अतः हमलोगोंको उपर्युक्त साधक, सिद्ध और भगवान्के लोक-संग्रह कर्मका तत्त्व-रहस्य समझकर महापुरुषों और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये और उनके चरित्रोंका अनुकरण करना चाहिये।

पूर्णताप्राप्तिका साधन—त्याग

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

जब कभी मानव-जीवनमें उन्नति, सद्गति, शान्ति तथा मुक्ति एवं भक्तिकी अभिलाषा प्रबल होती है, तब उसकी पूर्तिके लिये जो कुछ करना चाहिये, उस कर्तव्य अथवा साधनके समझनेके लिये जितनी आतुरता होती है, उतनी (आतुरता) जो कुछ नहीं करना चाहिये उस अकर्तव्य अथवा असाधनको भी जान लेनेके लिये प्रायः नहीं देखी जाती; इसीलिये जो कुछ नहीं करना चाहिये उस अकर्तव्य अथवा असाधनका त्याग किये विना मनोवाञ्छित कर्तव्य एवं साधनकी सिद्धि नहीं होती । वास्तवमें जो नहीं करना चाहिये, उस अकर्तव्य अथवा असाधनका त्याग करनेपर ही जो कुछ करना चाहिये, उस कर्तव्य तथा साधनके पूर्ण होनेकी शक्ति संचित होती है। यह गुरु-संदेश नित्य स्मरणीय है कि न करने योग्य अकर्तव्य—असाधनके त्यागसे ही करने योग्य कर्तव्य—साधन सुगमतासे होने लगता है। अपने बनाये हुए लोभ-मोह-अभिमान आदि दोषोंका अथवा अशुभ असुन्दर अपवित्र अहितकरका जितना त्याग होता रहता है उतनी ही सद्गुणोंकी वृद्धि तथा शुभ सुन्दर पवित्र हितकरकी पूर्ति होती जाती है। त्यागकी पूर्णतामें सम्बन्धजनित राग सत्यानुरागमें परिणत हो जाता है। किसीका त्याग ही किसीकी प्राप्तिका साधन है। प्रायः कुछ लोग धन छोड़ देने तथा गृह-परिवारसे अलग रहनेको ही त्याग समझ बैठे हैं। वास्तवमें त्यागका अभिप्राय यही है कि जो कुछ अशुभ, असुन्दर और परिणाममें दुःखदायी है, उसे छोड़ दे—उससे किंचित् भी सम्बन्ध न रखे। इस प्रकारके त्यागसे ही त्यागीके अधिकारमें वह सारी शक्ति और उतनी ही प्रीति आ जायगी, जो त्यागके प्रथम अशुभ, असुन्दर और अपवित्रको ग्रहण किये रहनेमें लगी थी; इसी अधिकृत शक्ति एवं प्रीतिके द्वारा ही शुभ, सुन्दर, पवित्र तथा हितकर संकल्पकी पूर्ति होगी।

यह समझ लेना आवश्यक है कि जिसका त्याग करना है, वह अशुभ, अपवित्र, असुन्दर तथा अनावश्यक क्या है। विचार-दृष्टिसे यह सिद्ध होता है कि घर, धन, परिवार और देहादि वस्तुएँ जो हमें मिली हैं या हमारे अधिकारमें हैं, वे स्वभावतः अपवित्र, अशुभ अथवा अनावश्यक नहीं हैं और इसीलिये ये सर्वथा त्याज्य नहीं हैं; पर इन प्राप्त वस्तुओं तथा व्यक्तियों एवं अवस्था और परिस्थितिके प्रति हमारे अन्तःकरणमें जो राग, द्वेष, लोभ, मोह, ममता आदि दोष-दुर्गुण प्रबल हो गये हैं, उन्हींका त्याग करना है। ये समस्त दोष-दुर्गुण ही अशुभ, असुन्दर और अपवित्र तथा परिणाममें महादुःखदायी हैं। अशुभ, असुन्दर, अपवित्र अथवा दुःखदायी दोषोंका त्याग करनेपर जो कुछ बच रहता है, वह शुभ, सुन्दर, पवित्र गुणयुक्त होता है; उसका दान करना चाहिये। लोभका त्याग करनेपर जो धन बच जाता है, उसका दान करना चाहिये। अभिमानका त्याग करनेपर जो अधिकार प्राप्त है, उसके द्वारा नम्रतापूर्वक कर्तव्य पालन करना चाहिये। मोह-ममताका त्याग करनेपर जो शरीर तथा सम्बन्धी साथ रहते हैं, उनका भोग न करके सेवामें सदुपयोग करना चाहिये। अर्थात् अपने शरीरद्वारा जिस किसी व्यक्तिसे सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी चाहिये। जो लोग लोभका त्याग न करके धनका त्याग करते हैं, मोह-ममताका त्याग न करके गृह-परिवारको छोड़ देते हैं, अभिमानका त्याग न करके आवेशमें पद-अधिकारका त्याग करते हैं, कामनाका त्याग न करके क्रोधावेगमें वस्तुओंका त्याग करते हैं, सुखासक्ति तथा अनित्य रसास्वादका त्याग न करके केवल प्रवृत्तिको ही छोड़कर निवृत्ति अपनाते हैं, वे पूर्ण त्यागी नहीं हो पाते। उन्हें इस प्रकार बाह्य-त्यागसे आन्तरिक शान्ति नहीं सुलभ होती, सम्बन्धजनित सभी दोष भीतर बने ही रहते हैं; वे ही एकान्तमें, वनमें, गिरि-गुहामें किसी विरक्त वेशके धारण करनेपर भी दुःख देते रहते हैं।

इस देहको किसी वन या गिरि-गुहामें रखने मात्रसे ही त्याग पूर्ण नहीं होता। शरीरद्वारा जहाँ-कहीं स्वेच्छा, परेच्छा तथा असावधानीसे हिंसा होती हो, कोई कर्म चोरी बन जाता हो, या कहीं व्यभिचारकी पुष्टि होती हो, वहाँ ये ही कर्म अशुभ, असुन्दर, अपवित्र तथा अहितकर हैं; इन्हींका त्याग करना आवश्यक है। वाणीके द्वारा असत् बोलना, परनिन्दा करना, व्यर्थ वार्ता करना, कठोर वचन बोलना, अपनी प्रशंसा करना अशुभ, अपवित्र तथा अहितकर है; इसीलिये इन दोषोंका त्याग करना चाहिये। नेत्रोंद्वारा जिस दृश्यके देखनेसे अथवा कानोंद्वारा जिस चर्चाके सुननेसे मनमें काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष तथा अभिमानकी वृद्धि होती हो, उस प्रकारके दर्शन-श्रवणका त्याग कर

देना चाहिये। जिससे शरीरमें आलस्य बढ़ता हो, जिह्वामें, स्वादकी आसक्ति बढ़ती हो तथा जो उत्तेजक, भारी, रूक्ष, दुर्गन्धयुक्त, सड़ा-गला, बासी, खुला रहनेके कारणदूषित, कीटाणुयुक्त, जूँठा तथा किसीके हिस्सेका हो—ऐसा आहार भी त्याज्य है; वह अशुभ, अपवित्र और अहितकर है। मनमें रहनेवाली उस रुचि, इच्छा अथवा संकल्पका भी त्याग करना चाहिये, जिसकी पूर्तिसे सुखोपभोगकी तृष्णा प्रबल होती हो तथा लोभ, मोह, अभिमान आदि दोष-विकार बढ़ते जाते हों और अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो; वह भी अशुभ, असुन्दर और अहितकर है। बुद्धिसे उस प्रकारके अध्ययनका त्याग करना चाहिये, जिससे ईश्वरके प्रति अविश्वास होता जाता हो, सनातन धर्म तथा वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके प्रति उपेक्षा बढ़ती जाती हो, इन्द्रिय-दृष्टिसे जो कुछ सुखद प्रतीत होता है, उसीमें आस्था होती जाती हो। बुद्धिमें भर जानेवाले ऐसे विचारोंका भी बहिष्कार करना चाहिये, जो देव-पूजा, ईश्वरोपासना तथा गुरुभक्ति और सात्त्विक श्रद्धामें बाधक बनते हों; वे भी अशुभ, अपवित्र तथा अहितकर हैं। चित्तमें होनेवाले उस चिन्तनका भी त्याग करना चाहिये, जिससे कहीं राग तथा कहीं द्वेष बढ़ता हो; अशुभ चिन्तनसे चित्त अशुद्ध होता है, इसीलिये वह अहितकारी है। अहंमें बसे हुए देहके प्रति अभेद-सम्बन्ध और व्यक्तियोंके प्रति भेद-सम्बन्धका भी त्याग करना चाहिये। जड देहसे मिलकर ही 'मैं' और सम्बन्धित वस्तुओं तथा व्यक्तियोंको अपनेसे मिलाकर 'मेरा' बन जाता है, 'मैं' और 'मेरेपन'की यह ग्रन्थि ही सत्स्वरूपका बोध नहीं होने देती! त्यागको पूर्ण बनानेके लिये उस अहंगत सूक्ष्म वासनाका भी त्याग करना चाहिये, जिससे संसारमें जन्म-मृत्युके बन्धनमें रहना पड़ता है।

जीवनका कल्याण आंशिक त्यागसे नहीं, पूर्ण त्यागसे होगा; इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारके द्वारा जो कुछ भी अशुभ, असुन्दर, अपवित्र तथा अहितकर होता दीख पड़े, उसीका त्याग आवश्यक है। जो कुछ नहीं करने योग्य है, उसका त्याग न होनेसे जीवनमें शुभ, सुन्दर, पवित्र और हितकारी संकल्पकी पूर्ति नहीं होती। कोई मानव दैवीसम्पत्ति इसलिये नहीं ला पाता कि आसुरी सम्पत्तिका त्याग नहीं कर सका; उदारतापूर्वक दानी इसलिये नहीं हो पाता कि लोभका त्याग नहीं कर सका। उसमें विनम्रता, सरलता इसीलिये नहीं आ पाती कि अभिमान तथा कठोर स्वभावका वह त्याग नहीं कर पाता; वह सभीके साथ शान्तिपूर्वक प्रसन्न रहकर कर्तव्यपालन इसीलिये नहीं कर पाता कि क्रोध-क्षोभका त्याग नहीं कर पाता। अपने बनाये हुए अशुभ, असुन्दर, अपवित्र तथा अहितकरके त्यागसे शुभ, सुन्दर, पवित्र, हितकारी संकल्पोंकी पूर्ति होने लगती है; संकल्पोंकी पूर्तिमें मिलनेवाले अनित्य रसास्वादके त्यागसे नित्य शान्तरस अनायास सुलभ रहने लगता है। सत्यसे विमुख रहनेवाली आसुरी सम्पत्ति (अमर्यादित काम, क्रोध, मद, मत्सर, अहंकार, दर्प, प्रमाद, अनियमित निद्रा, हिंसा, मोह, शोक, निन्दा, आलस्य, अज्ञान, असत्य, दम्भ, तृष्णा) के त्यागसे सत्यके सम्मुख रहनेवाली दैवी सम्पत्ति (सद्ज्ञान, प्रेम, क्षमा, नम्रता, दया, सरलता, शान्ति, शम, दम, तितिक्षा, तप, तुष्टि, संतोष, विराग, श्रद्धा, लज्जा, सुबुद्धि, विवेक आदि) की प्राप्ति हो जाती है। सीमित अहंके साथ रहनेवाली सुखोपभोगकी वासना तथा वैभव-ऐश्वर्यकी कामनाके त्यागसे ही कोई भी मानव पूर्ण कर्तव्यपरायण सेवक हो सकता है और अन्तमें मोक्ष भी पा सकता है।

प्रमाद, सुख-दुःखका भोग, भूतकालकी घटनाओंका चिन्तन, हिंसा, अशुद्ध संकल्प, परदोष-दर्शन, विवेक-विरोधी प्रवृत्ति, मिले हुए शुभ-सुन्दर-पवित्रका दुरुपयोग तथा साधनका अभिमान आदि असाधनोंका त्याग करनेपर ही साधनमें सिद्धि प्राप्त होती है। सुखका प्रलोभन तथा दुःखका भय त्याग करनेपर ही कोई निष्काम प्रेमी हो सकता है, ममताका त्याग करनेपर ही अहंताकी गाँठ खुल सकती है, तभी संसारके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है, परिस्थितिका सदुपयोग होने लगता है, कहीं भी आसक्ति नहीं रहती तथा मुक्ति सुलभ हो जाती है। परचर्चा—असत्-चर्चाका त्याग करनेसे प्रियतम प्रभु—सत्की चर्चा होने लगती है। किसी भी साधनाभ्यास अथवा तप तथा अध्ययनके द्वारा भूल-भ्रान्ति-अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे जीवनका पुरुषार्थ सफल होता है, जीव अपने निर्विकार शिवस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। किसीको अपना न मानकर एवं कुछ भी अपना न मानकर अधिकारका त्याग करनेसे कर्तव्यकी पूर्णता होती है, शान्ति प्राप्त हो जाती है, पूर्ण विश्राम सुलभ होता है। सभी प्रकारके अभिमानोंका त्याग करनेसे आत्मा-परमात्माका अनुभव होता है।

संसारसे सब प्रकारकी आशा तथा अपनत्वके सम्बन्धका

त्याग करनेपर भगवद्-भजन पूर्ण होता है, भक्ति सुलभ होती है; सुखकी आशाका त्याग करनेसे मुक्ति मिल जाती है। सभी प्रकारके संकल्पोंका त्याग करनेसे अनन्त चिद्घन परम-तत्त्वसे योगानुभव हो जाता है। पूर्ण त्यागसे ही पूर्ण प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है—यही है त्यागकी सर्वोपरि महिमा। त्यागके बिना न गति होती है, न सद्गति मिलती है और न परम गतिका ही द्वार खुल पाता है। त्यागसे ही संसारमें उन्नति होती है, परमार्थ-पथमें सद्गति—परमगति मिलती है, आत्मपथमें मुक्ति और अनन्त परमात्माकी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

भगवत्कृपामृत

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

स्खलन्नयनवारिभिर्विरचिताभिषेकश्रिये
त्वराभरतरङ्गतः कवलितात्मविस्फूर्तये।
निशातशरशायिना सुरसरित्सुतेन स्मृतेः
सपद्यवशवर्ष्मणे भगवतः कृपायै नमः॥[1]

कृपासिंधु भगवान् असंख्येयगुणगणमहोदधि अथवा निखिलकल्याणगुणगणनिलय हैं। वाल्मीकीय रामायणके आरम्भमें जब महर्षि वाल्मीकिने देवर्षि नारदसे धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवचा, दृढव्रत, चरित्रवान्, विद्वान्, आत्मवान् (जितेन्द्रिय), अनसूयक, क्षमाशील आदि अनेक गुण-गणवाले व्यक्तिको पूछा, तब श्रीमन्नारदजीने कहा कि ये गुण बड़े दुर्लभ हैं और ऐसे एक गुणसे भी युक्त मनुष्य मिलना कठिन होता है, किंतु गुणगणाकर राममें तो ये ही नहीं, अन्य भी समस्त सद्गुण पूर्णतया परिनिष्ठित हैं। भक्तकुलकमलदिवाकर श्रीयामुनाचार्यजी महाराज अपने 'स्तोत्ररत्न'में कहते हैं कि 'प्रभो! आप वशी (आत्मवान्), उदार, गुणवान्, सरल, परमपवित्र, मृदुलस्वभाव, दयालु, मधुर, अविचल, समदर्शी, कृतज्ञ तथा स्वभावसे ही समस्त-कल्याणगुणामृत सिंधु हैं—

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः॥

(आलवन्दारस्तो० २१)

श्रीरामानुजाचार्यने गीताभाष्यके आरम्भमें बड़े ही पवित्र तथा दिव्य शब्दोंमें भगवान्‌की कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य, औज्ज्वल्य, सौन्दर्य, लावण्य आदि विविध विचित्रानन्ताश्चर्यकल्याण गुणगणनिलयताकी छवि खींची है। श्रीहरिभक्तिसुधासिन्धुकार श्रीरूपगोस्वामीने भी भगवान् श्रीकृष्णमें समस्त सल्लक्षण तथा अगणित गुणोंको सोदाहरण प्रदर्शित किया है। भगवान् व्यासदेवके शब्दोंमें कृपामूर्ति भगवान्‌में करोड़ों सूर्यका प्रकाश, करोड़ों चन्द्रमाकी आनन्द-मयी शीतलता, करोड़ों कन्दर्पका लावण्य और करोड़ों समुद्र-की गम्भीरता है। वे तथा उनका नाम करोड़ों तीर्थके समान पवित्र हैं। उनमें करोड़ों वायुका बल, करोड़ों ब्रह्माका सृष्टि-नैपुण्य, करोड़ों लक्ष्मी एवं कुबेरकी समृद्धि एवं करोड़ों इन्द्रोंका विलास है। वे करोड़ों हिमालयके तुल्य निश्चल, करोड़ों सुधाके तुल्य मधुर एवं स्वास्थ्यप्रद तथा करोड़ों कामधेनुके तुल्य कामनाप्रद हैं—

सूर्यकोटिप्रतीकाशो यमकोटिदुरासदः।
कन्दर्पकोटिलावण्यो दुर्गाकोट्यरिमर्दनः॥
समुद्रकोटिगम्भीरस्तीर्थकोटिसमाह्वयः।
कोटीन्दुजगदानन्दी शम्भुकोटिमहेश्वरः॥
कुबेरकोटिलक्ष्मीवाञ्छक्रकोटिविलासवान्।
हिमवत्कोटिनिष्कम्पः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः॥
कोट्यश्वमेधपापघ्नो यज्ञकोटिसमार्चनः।
सुधाकोटिस्वास्थ्यहेतुः कामधुक्कोटिकामदः॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ७२। १५३–१५६)

पूज्यपाद गोस्वामीजी महाराज भी इन्हीं भावोंकी छाया लेते हुए अपनी पवित्र वाणीसे कहते हैं—

राम कामसतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥

१. शरशय्यापर पड़े गङ्गातनय भीष्मने जब भगवान्‌को स्मरण किया, तब जिस मङ्गलमयी करुणादेवीने प्रभुके नेत्रोंसे मानो उनके अभिषेकके लिये अश्रुओंकी धार-सी उँड़ेल दी, जिसके कारण शीघ्रता-में भगवान्‌को आत्मस्मृति—अपनी भी सुध-बुध नहीं रही और जो तत्काल वहाँ पहुँच गये, उस भगवत्कृपाको मैं नमस्कार करता हूँ।

मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास ।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भवत्रास ॥
प्रभु अगाध सत कोटि पताला । समन कोटि सत सरिस कराला ॥
तीरथ अमित कोटि सत पावन । नाम अखिल अघ पूग नसावन ॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा । सिंधु कोटि सत सम गंभीरा ॥
कामधेनु सत कोटि समाना । सकल कामदायक भगवाना ॥
सारद कोटि अमित चतुराई । बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता । रुद्र कोटि सत सम संहर्ता ॥
धनद कोटि सत सम धनवाना । माया कोटि प्रपंच निधाना ॥
भार धरन सत कोटि अहीसा । निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥
राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउँ सोइ ॥
—इत्यादि

इसी प्रकार भावुक भक्त महानुभावगण करुणावरुणालय भगवान्‌में अनन्तकोटि माताओंके स्नेह, वात्सल्य, कारुण्यकी कल्पना करते हैं। सुतरां उन अनन्त गुणगणार्णवके अनन्त गुणोंमेंसे यहाँ केवल उनके करुणा-गुणपर ही विचार करके अपनी बुद्धिको पवित्र करनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

कृपाशक्तिका चमत्कार

वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ऋषि-मुनियों एवं भक्त-संतोंके अनुभवके अनुसार विश्वके सभी प्राणियोंकी क्रिया-शक्ति, सद्बुद्धि, विवेक तथा समस्त कल्याणमय पदार्थ प्रभुकी कृपासे ही प्राप्त हुए हैं। उनकी इच्छा-शक्तिमात्रसे तृण वज्र, वज्र तृण हो सकता है—

'ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्री भवतीत्युपपद्यते ।
(केन० ३ । १ पर शांकरभाष्य)

'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई ।'

उनकी अघटनघटनापटीयसी लीलाशक्ति चाहे तो किसी भी क्षण महासमुद्रको स्थलरूपमें, स्थलको समुद्ररूपमें, वनस्थलीको मरुस्थली, मरुस्थलको वनस्थली, धूलको पर्वत, पर्वतको धूल, मेरुको मत्कुण (मच्छड़का बच्चा), मत्कुणको मेरु, वह्निको हिम तथा हिमको वह्निके रूपमें परिवर्तित कर सकती है। उनका नाम ही 'लीलादुर्ललिताद्भुत' तथा 'सर्वाश्चर्यचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधि' है।[1]

केन उपनिषद्‌के तीसरे खण्ड तथा लिङ्गपुराण पूर्वार्द्धके ५३ वें अध्यायमें 'यक्षोपाख्यान' आता है। उसमें बड़े सुन्दर ढंगसे यह दिखलाया गया है कि अग्निकी दाहिका एवं प्रकाशिका शक्ति, इन्द्र-वायु आदिका अपरिमित बल सब भगवत्कृपाशक्तिके कारण ही हैं। देवताओंको जो असुरोंपर विजय मिली, उसमें भगवत्कृपा ही एकमात्र हेतु थी, किंतु देवताओंने उस कृपामयकी कृपाशक्तिको भुला दिया और उसे अपनी ही विजय मानी। उनके स्वार्थप्रद इस अहंकारको दूर करनेके लिये प्रभु उनके सामने यक्षके वेषमें प्रकट हुए और अग्नि, वायु आदि देवताओंको एक तृणको जलाने तथा उड़ानेके लिये कहा। किंतु वह तृण वहाँ वज्र हो गया, या यों कहिये कि परमात्माने उन देवताओंसे अपनी शक्ति खींच ली; फलतः वे निर्वीर्य, निस्तेज, निःशक्ति देवता उस घासको टससे मस भी करनेमें समर्थ न हुए—

'तन्न शशाक दग्धुम्; तन्न शशाकादातुम्'
(केन उप० ३)

दग्धुं तृणं वापि समक्षमस्य
यक्षस्य वह्निर्न शशाक विप्राः ।
वायुस्तृणांश्चालयितुं तथान्ये
स्वान् स्वान् प्रभावान् सकला नरेन्द्राः ॥
(लिङ्गपुरा० पूर्वार्द्ध० ५३ । ५६)

फिर भगवती हैमवती उमादेवीने प्रकट होकर देवताओंको बतलाया कि तुम्हारी विजयमें उस करुणाकरकी कृपाशक्ति ही हेतु थी।

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें यही बतलाते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(गीता १५ । १२)

जो निखिल विश्वका प्रकाशक आदित्यान्तर्वर्ती प्रकाश है, वह मेरा ही तेज है तथा चन्द्रमा एवं अग्निका तेज भी मेरा ही तेज है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
(गीता १५ । १५)

---

[1] अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मत्कुणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम् ।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः ॥
(भोजप्रबन्ध ३१)

३—

'मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें संनिविष्ट हूँ, मुझसे ही प्राणियोंको स्मृति होती है, ज्ञान होता है तथा उनकी विस्मृतिका भी कारण 'मैं ही हूँ ।'

श्रीमद्भागवतमें दानव-कुलभूषण, परमभागवत वृत्रासुरका कथन है कि जैसे दारुमयी नारी (कठपुतली) तथा यन्त्रमय मृग सूत्रधारके अधीन होते हैं, उसी प्रकार यह समस्त प्राणीवर्ग ईश्वरके अधीन है । सभी प्राणियोंका ओज, तेज, वल, प्राण, जीवन तथा मृत्युका कारण वह सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वर ही है, किंतु उसे न जानकर मूढ़ (देहात्मवादी) जनता अपने जड शरीरको ही सबका कारण मान लेती है—

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥
ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । १२ । १०, ९)

इन्द्र, वायु, अग्नि, यम, वरुण, कुवेर आदि दिक्पाल तथा ब्रह्मा आदि लोकपालगण भी पञ्जरबद्ध पक्षीके समान उसके वशमें होकर विवशतापूर्वक श्वास-प्रश्वास लेते हैं, वह कालात्मक परमात्मा ही सबकी जय-पराजयका एकमात्र हेतु है—

लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । १२ । ८)

परम शान्त, सुशील, गुणाकर, महाभागवताग्रणी, महात्मा प्रह्लाद भी कहते हैं कि सभी वलियोंका बल वह परमात्मा ही है—

स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।

(श्रीमद्भा० ७ । ८ । ८)

इसी तरह कार्यसिद्धिमें सफलता-असफलताकी हेतु भी भगवत्कृपा ही है । अमृत-प्राप्तिके लिये देवता तथा असुरोंने समान देश, काल, हेतु, अर्थ, बुद्धि एवं साधनोंके सहारे समुद्रमथनका प्रयत्न किया; किंतु भगवान्‌की पाद-पङ्कज-रजके समाश्रयणसे भगवत्कृपाके कारण देवताओंको तो सिद्धि मिली, अमृत मिला और दानव-दैत्योंको कुछ भी हाथ न लगा, मिली भी तो सर्वानर्थकारिणी वारुणी ही—

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपु-
र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । ९ । २८)

इसी प्रकार ब्रह्माकी सृजन-शक्ति, शेषनागकी धरा-धरण-शक्ति, रुद्रकी संहार-शक्ति, इन्द्र-कुवेरादिकी समृद्धि-शक्ति सब उनकी ही कृपाशक्तिकी देन है । काशीखण्डमें सभी लोकपाल-दिक्पालों एवं ग्रहोंकी भगवदाराधनद्वारा तत्तत्पदोंकी प्राप्तिकी विस्तृत कथा कई अध्यायोंमें है । अतः किसी भी निराश, हतोत्साह, विगलितधैर्य, निःशक्ति एवं निस्तत्त्व प्राणीको सर्वथा निराश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । उसे भगवत्कृपा प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये । भगवान्‌की कृपाशक्ति क्षणभरमें सब कुछ कर सकती है । वह मुर्देको जिला सकती है, विषको अमृत, जडको चेतन, मशकको विरञ्चि तथा कोई भी बिगड़ी बातको बनाकर उसे अपूर्व रूप देनेमें सक्षम है—

'जो चेतन कहँ जड़ करु, जड़हि करइ चैतन्य ॥'
'मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन ॥'
'खाली भरे भरो ढरकावै । जब चाहे तब भरे भरावै ॥'

क्योंकि भगवत्कृपा सर्वथा अघटनघटनापटीयसी तथा भगवान् सर्वथा 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' जो ठहरे । अधिक क्या ! बाइबिल तथा कुरान आदि धर्मग्रन्थोंमें भी प्रायः अधिकांश कथाएँ भगवत्कृपासे ही सिद्धि, साफल्य एवं सुखलाभकी हैं ।

कृपाप्राप्तिका उपाय क्या ?

जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी अपनी संतान—जीवनिकायपर स्वाभाविक कृपा है । जो संसारके भयानक रूपसे डरकर दीन-हीन होकर उसकी शरणमें आता है, उसपर वह तत्काल कृपा करता है । पर उसकी कृपाद्वारा प्राप्त ऐश्वर्य, वीर्य, हर्ष आदिके अतिरेकमें आकर जब प्राणी गर्वसे चूर होने चलता है, तब कृपामय प्रभु उसकी रक्षाके लिये सावधान करते हैं और उसके सारे मायामय पदार्थ दूर कर लेते हैं—

'जब हरि माया दूरि निवारी । नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥
तब मुनि अति सभीत हरि चरना । गहे पाहि प्रनतारति हरना ॥'

यद्यपि नारदजीको मायामयी राजकुमारी मिली नहीं थी, किंतु उसके दर्शनमात्रसे ही उनमें अनेक राग, गर्व, क्रोध आदि दोष आ गये थे । उन चीजोंको हरते ही उनकी बुद्धि ठिकाने आ गयी । इसीलिये अद्वैतवादी इस विश्वको असत्य

बतलाते हैं; क्योंकि यह सब तत्त्वतः मायामय, भ्रामक तथा विनाशक ही है। रात-दिन इस संसारकी इन सभी वस्तुओंकी क्षणिकता, वञ्चनशीलता, सर्वथा निस्सारता आदिको समझते हुए केवल भगवच्चरण-चिन्तनसे ही प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं। सत्संग, नाम-जप, कथा-श्रवण, कीर्तन, ध्यान, प्रार्थना तथा सद्धर्माचरण आदिसे वे अति शीघ्र द्रवीभूत होते हैं। निरुपाय होकर शरणापन्न होनेपर वे तुरंत अपना लेते हैं। वे ज्यों ही कृपादृष्टिसे एक बार शरणागत प्राणीपर दृष्टिपात करते हैं, उसका क्लेश-सागर सूख जाता है। भावुकोंने उदार स्मितमयी भगवदीय कृपादृष्टिको 'तीव्र-शोकाश्रुसागर-विशोषण' कहा है। उनके कुण्डलमण्डित मुखमण्डल तथा अरुणिम अधरबिम्बकी आभा लोकार्तिका अपनोदन करनेवाली है—

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ८ । २७)

उनके अरुण चरणोंके अनुरागामृतसिन्धुका एक बिन्दु भी इस भीषण संसारकी दावाग्निको शान्त करनेके लिये पर्याप्त है। उन चरणोंमें नमस्कार करनेवालेकी आर्ति उसी क्षण समाप्त हो जाती है। वे एक बार भी प्रणाम कर लेनेसे अपना लेते हैं, चाहे प्रणत व्यक्ति कितना भी असाधु क्यों न हो—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किए अपनाए॥

अधिक क्या, भगवान्‌का श्रीविग्रह ही कृपापरिपूर्ण—कृपाका ही बना है—'प्रभु मूरति कृपामयी है' और वह कृपादेवी भी उनकी ही कृपासे कभी कृपा करते-करते थकती भी नहीं—सदा ही कृपा करनेको प्रस्तुत रहती है—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।' अन्तमें तो भगवान्‌के प्रकोपमें भी कृपातत्त्व ही दीखता है और फिर इस विश्वमें कोई भी वस्तु या घटना उनकी कृपासे रिक्त नहीं दीखती। पर यह सब दर्शन, अनुभव विचार तभी होता है, जब उनकी कृपा हो जाय। भगवच्चरणोंकी विमुखता, भगवत्तत्त्वका निराकरण अवश्य ही महान् दुर्भाग्यका विषय है, यही भगवत्कृपा-शून्यावस्था है, इसीलिये श्रुति प्रार्थना करती है कि 'प्रभो! सब कुछ हो जाय सो ठीक, किंतु ऐसा कभी न हो कि मैं तुम्हारा निराकरण करने लग जाऊँ या तुम मेरा स्वयं निराकरण कर दो—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।'

ऐसे अज्ञानी प्राणीके लिये वह परमात्मा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० २ । ३ । २) है। इन्हीं संसारियोंके लिये गीताने सर्वाधम गति प्राप्त होनेकी बात कही है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(गीता १६ । १९-२०)

वस्तुतः भगवान्‌की विस्मृति भगवत्तत्त्वका अनुसंधान, भगवदाज्ञा, भागवत शास्त्रोंका उल्लङ्घन ही विपत्ति है। अतः कल्याणेप्सु बुद्धिमान् प्राणीको सभी अनर्थोंसे बचकर सर्वात्मना सदा-सर्वदा भगवत्तत्त्वानुसंधानमें ही रत रहना चाहिये। यही सर्वोत्तम सम्पत्ति है।

आराध्यसे

तुम्हारी रूप-छवि मन में बसा कर,
हैं रहे जीते अभीतक और आगे भी जियेंगे।
तुम्हारी बात पर विश्वास रख कर,
हैं रहे चलते अभीतक और आगे भी चलेंगे॥

—बालकृष्ण बलदुवा

---

१. शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति ।
तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । १३ । ४८-४९)

शरणागतकी निष्ठा

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

गत आठवें अङ्कमें प्रकाशित 'सद्यःश्रेयस्करी शरणागति' शीर्षक लेखमें विशेषकर शरण्य प्रभु श्रीरामजीकी प्रतिज्ञाके आधारपर कहा गया था कि शरण होते ही वे शरणागतको लोक-परलोकके भयोंसे तत्काल ही अभय कर देते हैं। यहाँ इस लेखमें शरणागत मुमुक्षुकी निष्ठा (शेषत्वनिष्ठा) लिखी जायगी कि शरण होकर उसे किस प्रकारकी निष्ठासे कालक्षेप करना चाहिये। वहाँपर—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

(वाल्मी० ६। १८। ३३)

अर्थात् जीव हाथ जोड़कर दीन हो 'मैं आपका हूँ' यह याचना करे, तब शरण्य श्रीरामजी इसका कुल भार ले लेते हैं'—ऐसा कहा गया था। उसमें 'तवास्मि' इस भावके माँगने-का रहस्य यह है कि जीव ईश्वरका सनातन अंश है—(गीता १५। ७) अंशका अर्थ 'अंशभागौ तु वण्टके' (अमरकोष)। इस प्रमाणसे भाग (हिस्सा) होता है। जो जिसका भाग होता है, वह उसीके उपभोगके लिये रहता है। वैसे ही जीवमात्र अंश होनेसे ईश्वरके भोग्य एवं सेवक हैं। इसी भावको 'शेषत्व' कहा जाता है। अतः जीवोंको ईश्वरके अधीन उसका भोग्यभूत होकर रहना चाहिये और शरीरसे उसकी सेवा करनी चाहिये। संसारमें आनेके पूर्व भी यह ईश्वरके परिकर एवं परिच्छदरूपमें शेषत्वनिष्ठ था। यथा—

हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥

निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

(रा० च० मा० किष्कि० २६)

मोहवश होकर यह संसारमें आ गया। अब मुमुक्षुता आनेपर इसे चेत हुआ। जब इसे अपनी पूर्व स्थितिकी प्राप्ति अपने उपायोंसे अगम जान पड़ी, तब ईश्वरको उपाय-रूपमें वरण करता हुआ यह उनसे अपनी पूर्वस्थितिकी याचना 'तवास्मि' इस वाक्यसे करता है कि 'मैं आपका ही हूँ, आपका ही शेष हूँ; वही स्थिति मुझे प्राप्त हो।' आदर्शभूत नित्यजीव शेषत्वनिष्ठासे ही रहते हैं। शेषत्व क्या है?

परगतातिशयाधानेच्छयोपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः।

(वेदान्ताचार्य)

अर्थात् ईश्वरके इच्छानुसार उसके परतन्त्र रहकर सेवा करना उसका शेषत्व है, जाम्बवान् आदिके शेषत्वके प्रमाण ऊपर आ गये हैं; तथा—

निवासशय्यासनपादुकांशु-
कोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीरभेदैस्तव शेषतां गतै-
र्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः॥

(आलवन्दारस्तोत्र ४३)

अर्थात् समय-समयपर यथायोग्य आपके सेवाभावमें प्राप्त होनेवाले गृह, शय्या, आसन, पादुका, पीताम्बर आदि वस्त्र और तकिया तथा छाता आदि नाना प्रकारके शरीरोंसे यथायोग्य सेवामें सदा रहनेसे भक्त लोगोंके द्वारा जो 'शेष' इस संज्ञासे कहे जाते हैं, (वे शेषजी)। एवं—

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो
यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः॥

(आलवन्दारस्तोत्र ४४)

अर्थात् गरुड़जीके उड़ते समय उनके पक्षोंसे ऋक्, साम और यजुः—इन तीनों वेदोंकी ध्वनि हुआ करती है। इससे वे वेदत्रयीमय कहे जाते हैं। वे गरुड़जी समय-समयपर आपके दास, सखा, वाहन, सिंहासन, ध्वजा, चाँदनी और पंखा आदि रूप धारणकर सेवा करते हैं; तथा—

भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥

(रा० च० मा० उत्तर० १२)

इस प्रकार शेषत्वनिष्ठ जीवोंके कुछ उदाहरण लिखे गये। नित्य-शेषत्वनिष्ठ शेषावतार श्रीलक्ष्मणजीने नवीन शरणागत श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषण आदिके प्रति शेषत्व-निष्ठाका उपदेश दिया है—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै॥ १॥
मोहिं कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ अरथ-चरचा कीरै।
सोभा सुख छति-लाहु भूप कहँ, केवल कांति-मोल हीरै॥ २॥
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लखनकी प्रीतिकी क्यों दीजै खीरै-नीरै?॥ ३॥

संजीवनी बूटीके सेवनसे सचेत होनेपर (श्रीसुग्रीव आदिके द्वारा पीड़ाके विषयमें पूछे जानेपर) श्रीलक्ष्मणजी प्रेमसे पुलकित हो और देह-सुध भूले हुए इस प्रकार कहने लगे—'मेरे वक्षःस्थलमें तो घावमात्र हुआ है, परंतु इसकी पीड़ा श्रीरघुनाथजीको (हुई) है ॥ १ ॥ आपलोग मुझसे बार-बार क्या पूछते हैं ? (आपलोगोंका मुझसे पूछना वैसा ही है) जैसे कोई तोतेसे उसके द्वारा पढ़े हुए पाठके अर्थ पूछनेकी चर्चा करे (तो वह चर्चा व्यर्थ ही है)। हीरेमें केवल कान्ति और मोल ही रहता है, फिर तो (उसके धारण करनेपर) उससे होनेवाले शोभाका सुख, खो जानेपर उसकी हानिका दुःख और उसके लाभका हर्ष, उसके धारण करनेवाले राजाको ही होता है ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीसुमित्रानन्दनके ये वचन सुनकर सब धैर्यवान् लोग भी धैर्य धारण नहीं कर सके। अतः इन श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजीकी प्रीतिकी उपमा दूध और जलकी प्रीतिसे कैसे दी जाय ? ॥ ३ ॥

विशेष—वनयात्राके समय श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीकी शरणागति की है—श्रीरामचरितमानस (अयोध्या० ७०-७२) तथा वाल्मीकि० (२।३१, २।२८) देखिये। शरणागतिमें 'तवास्मि' अर्थात् मैं आपका हूँ, ऐसा कहकर मुमुक्षु अपना शरीर एवं तत्सम्बन्धी वस्तुएँ स्वामीको समर्पित कर उनका शेष (भोग्य—सेवक) होकर रहता है (एवं उपर्युक्त रीतिसे अपने नित्य-शेषत्वकी याचना करता है)। श्रीरामजी इसके इस भावानुसार गीता (४ । ११) की अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इसके प्रति वैसे ही बर्तते हैं; इसके शरीरके स्वामी होकर इसको अपना धन मानकर इसका संरक्षण करते रहते हैं। यह स्वामीपर निर्भर रहकर निश्चिन्त रहता है। श्रीलक्ष्मणजीकी शरणागतिपर इनकी माता श्रीसुमित्राजीने भी इन्हींके भावोंको दृढ़ कर दिया है—श्रीरामचरितमानस अयोध्या० (७३-७४) देखिये। इसीसे उस भावकी खरी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर यहाँ (इसी पदमें) आगे इन्हें 'सौमित्रि' कहा गया है। 'हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि घाव तो मेरी छातीमें ही हुआ है, परंतु इसकी पीड़ा मुझसे न पूछिये। मेरा शरीर जिनका धन है, उन धनी श्रीरघुवीरजीसे पूछिये। इसकी पीड़ा वस्तुतः उन्हींको थी। उन्हींने उपाय कर इसे नीरोग भी कराया है। मैं तो मूर्छित पड़ा था। 'पाइ सजीवन जागि'''—मूर्छा-निवृत्तिपर स्वामीका, अपने धनके समान अपना संरक्षण देख, अपनी प्रपत्ति-निष्ठाकी सिद्धि समझकर स्वामीकी कृपाके प्रति कृतज्ञतामें प्रेमसे पुलकित हो वे शरीर-सुध भूल गये और फिर सावधान होकर इस प्रकार कहने लगे—

'मोहिं कहा बूझत पुनि-पुनि'''—जब श्रीलक्ष्मणजीने कह दिया कि पीड़ाकी बात स्वामी श्रीरामजीसे पूछिये; क्योंकि इस देहकी सार-सँभाल तो उन्हींने किया है। इसपर लोगोंने फिर-फिरसे कहा कि आपके सेवा-कर्म एवं गुणोंपर ही मुग्ध होकर तो स्वामीने आपका संरक्षण-भार लिया है। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जैसे पाठक तोतेको उत्तम पाठ पढ़ाता है और फिर स्वयं उस तोतेसे सुनकर उसकी प्रशंसा करता है, प्रसन्न होता है और उसका संरक्षण करता है। तोतेसे यदि पूछा जाय कि तेरे इस पाठका क्या अर्थ है तो वह कुछ नहीं कह सकता। उसी प्रकार स्वामी श्रीरामजीने मुझे सद्गुण प्रदान कर मुझसे अपनी सेवा करा स्वयं प्रसन्न हुए हैं, इसमें मैंने तो कुछ नहीं किया है। मैं यह नहीं समझता कि मेरे द्वारा होनेवाले किस गुण एवं कर्मसे स्वामी प्रसन्न होते हैं; श्रीभरतजीने भी ऐसा ही कहा है—

'पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना' ।
'यों सुधारि सनमानि जन, किए साधु सिरमोर।'
(रा० च० मा० अयो० २९९)

शरणागतिके आचार्योंने कहा है

त्यागश्च नोपायः स्वीकारश्च नोपायः किंतु उभयोः कारयिता भगवानेव उपायः ॥

अर्थात् श्रीरामजी अपनी प्राप्तिमें स्वयं उपाय हैं। इस मुमुक्षुने जो सांसारिक सम्बन्धोंका त्याग किया है और जो इसने श्रीरामजीकी शरणागति स्वीकार की है; ये दोनों कार्य श्रीरामजीने ही प्रेरणा करके इससे कराये हैं—यह वचन यहाँपर इस लक्ष्मणजीकी उक्तिमें चरितार्थ है। 'सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ'''—हीरामें यदि कान्ति और मोल रहते हैं, तब राजा आदरपूर्वक उसका धारण करता है और फिर उस हीरेके संरक्षणका कुल भार राजा ही रखता है। वह हीरेकी शोभापर सुखी होता है और उसके टूटने-फूटने एवं खो जानेकी हानिपर वह दुखी होता है तथा उस अमूल्य हीरेके लाभपर वह भारी हर्ष मानता रहता है। यहाँ हीरा

शेष और राजा उसका शेषी है। शेषको धन, भोग्य और सेवक तथा शेषीको धनी, भोक्ता और सेव्य (स्वामी) कहा जाता है। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी शेष और श्रीरामजी शेषी हैं।

हीरेमें कान्ति और मोल रहते हैं तभी राजा उसको धारण करता है, वैसे इस शरणागत (शेष) में विवेक (सदसद्विवेक एवं स्वस्वरूप-परस्वरूप-विवेक) और निष्ठा (शेषत्वनिष्ठा) रहनी चाहिये, तभी शेषी श्रीरामजी इसको अपना अङ्ग मानकर धारण करेंगे—अपनायेंगे। फिर इसमें अपेक्षित सद्गुण दे अपना शेषत्व करा उसमें शोभाके सुखका अनुभव करेंगे, इसकी चूकपर पूरी सँभाल करते रहेंगे और फिर इस अपने परिकरको अपना अमूल्य धन मानकर इसपर हर्षित रहेंगे।

यहाँ शेषत्वके आचार्य श्रीलक्ष्मणजीने सुग्रीवादिके व्याजसे सभी शरणागतोंको शिक्षा दी है।

आजकल शरणागतोंको आचार्यलोग पञ्च-संस्कारोंका रहस्य समझाकर विवेक देते हैं, इससे शिष्य इन्द्रियोंको असद्व्यवहारसे खींचकर हरि-भक्तिमें लगाता है और मन्त्रार्थसे त्रिविध अनन्यताओं (अनन्यशेषत्व, अनन्यभोग्यत्व और अनन्योपायत्व) की दृढ़ता करा इसकी निष्ठा दृढ़ करते हैं।

'सुनि सौमित्रि वचन···'—श्रीलक्ष्मणजीने 'प्रेम पुलकि बिसराय सरीरैं' इस दशासे कथन प्रारम्भ किया था, यहाँ 'सब धरि न सकत धीरौ धीरैं' इस अन्तके वचनसे सबको प्रेममें अधीर कर दिया; यही कथनका गौरव है।

'उपमा राम-लखन·····खीरै नीरै ।'—दूध और जलकी प्रीति खटाई पड़नेपर विलग हो जाती है। परंतु श्रीराम-लक्ष्मणकी प्रीति वनवासकी विपत्ति एवं युद्धमें घायल होनेमें भी विलग नहीं हुई। मूर्च्छावस्थामें भी ज्यों-की-त्यों रही; इससे जागते ही पूर्ववत् विवेकसे इन्होंने निष्ठा-निर्वाहका वर्णन किया है। अतः दूध और जलकी प्रीतिकी उपमा यहाँ युक्त नहीं है। श्रीभरतजीने कहा है—

कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे॥
(रा० च० मा० अयो० २०४)

श्रीयामुनाचार्यने भी कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात् ।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे जातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन ! विज्ञापनमिदम् ॥६०॥
(आलवन्दारस्तोत्र)

अर्थात् 'हे नाथ ! मैं आपके शेषत्व (दासत्व) के वैभवसे बाहर होनेवाले न देहको, न प्राणोंको, न सम्पूर्ण अभिलाषाओंके विषयोंसे होनेवाले सुखोंको, न आत्माको सह सकता हूँ और अन्य जो कुछ भी हो, इन सबको मैं क्षणभर भी नहीं सह सकता। आपके शेषत्व-वैभवसे विमुख जो है, वह सौ प्रकारसे विनाशको प्राप्त हो, मैं यही चाहता हूँ, हे मधुमथन ! मेरा यह विज्ञापन सत्य है।'

इस प्रकारके शेषत्वको आजन्म निर्वाह कर शरणागत को अपनी की हुई 'तवास्मि' इस प्रतिज्ञाका निर्वाह सप्रेम करना चाहिये। तब श्रीरामजी भी (गीता ४। ११ की अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार) इसके भावानुसार सम्मुख रहेंगे। (गीता ७। २१-२२ के अनुसार) ये इसकी श्रद्धाको धारण कर स्थिर रखेंगे। आजन्म निवह जानेपर (गीता ८। ६ के अनुसार) यह अपने भावानुसार भगवान्के नित्य-शेषत्वको प्राप्त हो जायगा; फिर संसारमें नहीं आयेगा। तथा—

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।
(तैत्ति० १। २)

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १६)

स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ॥
(छान्दोग्य० ८। १५। १)

—इत्यादि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ उक्त शेषत्व-सिद्धिकी मुक्तकण्ठसे घोषणा कर रही हैं।

आर्य-संस्कृतिपर संकट

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

देशको स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर जिन-जिन विषयोंमें उन्नतिकी आशा की जाती थी उन विषयोंमें कहाँतक उन्नति हुई है, इस विषयपर विचार करना है। इसका कोई एक सर्वमान्य मापदण्ड नहीं हो सकता है। कुछ लोग इसीसे तृप्त हैं कि स्वतन्त्र भारतके लोग आज विदेशोंमें विदेशियोंके समक्ष समानताके भावसे अकड़कर चलते हैं, जहाँ पहले वे कुलीकी श्रेणीके समझे जाते थे। कुछ लोग इससे संतुष्ट हैं कि देशमें कल-कारखानोंकी वृद्धि हो रही है, दामोदरघाटी एवं भाखराके समान विशाल योजनाओंकी पूर्ति की जा रही है, जिनसे कृषिमें अतर्कित प्रगति होगी और गाँव-गाँव, घर-घरमें बिजलीसे छोटे-बड़े कारखानें सुविधासे चलेंगे और घर-घरमें बिजलीके दीपक जलेंगे। कुछ लोग इससे प्रसन्न हैं कि देशमें प्रान्त-प्रान्तमें, जिले-जिलेमें विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय एवं पाठशालाओंकी पंक्ति जोड़ी जा रही है जिससे देशमें सार्वभौम 'साक्षरताका' प्रचार और उच्च-शिक्षाका विस्तार हो रहा है। कुछ लोग इसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं कि असवर्णों और हरिजनोंके उत्थानको पूरा अवसर दिया जा रहा है, जिससे सवर्णोंके साथ उन्हें समानताका स्थान निकट भविष्यमें प्राप्त होगा और वे भी इस देशको अपना देश समझने लग जायँगे। परंतु इन सबसे भिन्न एक श्रेणीके वे लोग हैं, जो 'स्वतन्त्रता-लाभके पश्चात् देशमें प्राचीन आर्य-सभ्यता तथा आर्य-संस्कृतिका विकास होगा और इसकी विशेषताओंका विदेशोंमें पुनः नये ढंगसे समादर होगा और देशमें लौकिक उन्नतिका आधार धर्म होगा'—ऐसी आशा रखते थे।

कहना नहीं होगा कि अन्तिम श्रेणीके लोग देशके वर्तमान शासनसे अत्यन्त निराश हुए हैं और उनकी बची-खुची आशा भी दिनोंदिन कर्पूरवत् विलीन हो रही है। देशमें और प्रदेशोंमें दिनोंदिन जितने विधेयक पारित किये जा रहे हैं, उनका एक प्रधान लक्ष्य मानो आर्य-संस्कृतिको मटियामेट करना रहता है। आर्य-सभ्यताका प्रधान स्तम्भ है—'सम्मिलित परिवार।' एक मनुष्यके दूसरे मनुष्यके साथ मानवताके नाते जितने रूपमें अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध इस संसारमें हो सकते हैं, वे सम्मिलित परिवारमें ज्वलन्तरूपसे पाये जाते हैं। परिवारके एक सदस्यका दूसरे सदस्यके हितमें त्याग एवं कष्टसहिष्णुता तो सम्मिलित परिवारका साधारण रूप है। लोकतन्त्र शासनप्रथाका यह अनुपम रूप है। समाजवादी सिद्धान्त 'From each according to his capacity and to each according to his needs' जितना ही काम कर सके, उतना ही करे, पर प्रत्येक सदस्यकी सारी आवश्यकताएँ पूरी की जायँगी' का यह पारिवारिक प्रथाका अद्वितीय व्यावहारिक रूप है। परिवारमें कोई व्यक्ति अपङ्ग, रुग्ण, विकृतमस्तिष्क अथवा निकम्मा हो तो भी उसका भरण-पोषण—इतर योग्य व्यक्तियोंके समान ही होता है, उसके लड़के-लड़कियोंका भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा समानरूपसे होती है। उसकी लड़कियोंके विवाह भी परिवारकी स्थितिके अनुसार ही होते हैं। इससे बढ़कर परिवारका कैसा सुन्दर रूप हो सकता है, यह भारतवर्षसे बाहरके लोग अनुभव नहीं कर सकते हैं, जहाँ सम्मिलित परिवार-जैसी कोई वस्तु नहीं है। भाई-भाई, पिता-पुत्र पृथक्-पृथक् रहते आये हैं और अधिकतर होटली जीवन बिताते आये हैं। ऐसी अमूल्य प्रथाको विनष्ट करनेवाली कोई भी शासन-पद्धति, देशी हो अथवा विदेशी, भारतीयोंको प्रिय नहीं हो सकती। आजके शासनने इस दिशामें देशका असह्य अहित किया है। अब आगे इस दिशामें जागरूकतासे काम लिया जाना चाहिये।

अंग्रेजोंके शासनकालमें ही सीमित अधिकारवाले प्रादेशिक मन्त्रिमण्डलोंने १९३५में कृषि-कर (Agricultural Income-tax) की प्रथा निःशुल्क, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचारके नामपर चलायी। उस करके रुपयेमेंसे एक पैसा भी शिक्षाके प्रचारमें 'व्यय' नहीं हुआ, परंतु वह कर स्थायी हो गया, जिसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े काश्तकारोंने अपनी सम्पत्तिका बँटवारा कर लिया। दिनोंदिन उस करका दायरा नीचेकी ओर बढ़ता गया और सम्पत्तिका बँटवारा होता गया। फिर दूसरा भयंकर वार सम्मिलित परिवारपर होने जा रहा है जमीनपर हदबन्दीके द्वारा। (ceiling on agricultural lands) इसमें भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें नाना प्रकारकी ऊटपटाँग बातें की जा रही हैं। भूमिवान् लोग इस कानूनके भयसे निष्प्राण होते जा रहे हैं और अपनी जमीनोंको यत्र-तत्र फेंक रहे हैं। फेंकें कैसे नहीं, सैकड़ों वर्षोंसे पिता-पितामह-प्रपितामहकी गाढ़ी

कमाईसे अर्जित भूमिको कुछ मनचले लोग शासनके अधिकारमें आकर छीनकर देशकी आर्थिक उन्नतिके नामपर बर्बाद करना चाहते हैं और उन भूमिहीनोंको देना चाहते हैं जो अपने दुर्व्यसनोंसे पैतृक सम्पत्तिको अधिकांशमें गँवा चुके हैं और जो आज इस सत्यानाशी सत्रयस्क-मताधिकारके कारण मतदान-भिक्षुकोंके आराध्य हो रहे हैं। कहनेके लिये जो कुछ कहा जाय, पर इस प्रस्तावित हदबन्दी कानूनकी तहमें एकमात्र यही उद्देश्य छिपा हुआ है।

हिंदूकोड तथा तलाक-कानूनके द्वारा हिंदुओंकी धार्मिक प्रथाका मखौल उड़ाया गया है, उत्तराधिकारके नियमोंमें अविवाहित स्त्रियोंकी संतानोंको दायभागी बनाकर महान् अनर्थ किया गया है। विवाहकी मर्यादाको नीचे गिराया गया है। भठियारिन स्त्रियोंको महत्त्व दिया गया है और भठियारे लोगोंकी कुप्रवृत्तिको प्रोत्साहित किया गया है। तलाक-कानूनका भी कुछ ऐसा ही अनर्थमय परिणाम हो रहा है। द्विजेतर निम्नवर्गके लोगोंमें तलाक-प्रथा पहलेसे ही प्रचलित थी। द्विजोंके ऊपर इसे इसलिये लादा गया है कि देशमें, समाजमें सब लोगोंमें बुरी बातोंमें भी समानता हो जाय। जो ऊँचे हैं वे नीचे गिरेंगे तो नीचेवाले आसानीसे उनकी पंक्तिमें पहुँच जायँगे। यह द्विधार आक्रमण हिंदुओंके ऊपर इस शासनमें किया जा रहा है। अधिकारलोलुप कुशासकोंको 'यह' नहीं सूझ रहा है कि इस देशके ब्राह्मण-क्षत्रियोंके द्वारा बनाये हुए धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवनक्रमसे ही भारतका भारतत्व है। निम्नश्रेणीके इतर लोगोंकी संख्या जितनी भी हो, वे इस देशकी मर्यादाके रक्षक नहीं हो सकते हैं और न देशकी रक्षा ही कर सकते हैं। मतदानके अधिकारसे ही सब मनुष्य बराबर नहीं हो सकते हैं। एक मनु, एक याज्ञवल्क्य और एक व्यास जो अक्षय निधि इस देशको दे गये हैं, वह आजके हजारों विधायक लोग हजारों वर्षोंमें भी नहीं दे सकते हैं। एक अर्जुन और राणा प्रताप स्वधर्म तथा स्वदेशकी रक्षाके नामपर वीरताका जो उदाहरण छोड़ गये हैं, वह निम्नवर्गके लोगोंके द्वारा सुदूर भविष्यमें भी असम्भावित है। आज किसीको कितने भी राजनीतिक अधिकार दिये जायँ, देशपर बाहरी संकटके समय वे रँगे सियारकी भाँति धोखा देंगे और देशकी रक्षाका भार पुनः पुराने देश-रक्षकोंके ऊपर ही रहेगा। यह अकाट्य सत्य बहुत लोगोंको कटु प्रतीत होगा, पर विचारवान् लोग इसे अवश्य स्वीकार करेंगे।

कल्याण इतना ही है कि देशमें चिरकालसे धर्मका मूल इतना नीचे गड़ा हुआ है कि 'समय-समयपर विनाशकारी कानूनोंके बनाये जानेपर भी धर्मप्रिय आर्योंपर उसका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता है। वे कानून कागजपर ही लिखे रह जाते हैं। आजसे ठीक १०० पूर्व वर्ष विद्यासागरने विधवा-विवाहका कानून बंगालमें पास कराया था। पर 'इस' लंबे अरसेमें शायद १०० भी द्विज-विधवाओंके विवाह बंगालमें नहीं हुए होंगे। अस्पृश्योंसे स्पर्शका निषेध करना दण्डनीय बताया गया है, पर इसका क्या परिणाम हो रहा है। कानूनसे नहीं, परंतु समयकी गतिसे ही इस विषयमें लोगोंके विचार बदल रहे हैं। इसमें किसीको क्या आपत्ति हो सकती है। दुःख तो इस बातका है कि बार-बार हिंदुओंके ऊपर ही आक्रमण किया जा रहा है। मुसल्मानोंमें भी सामाजिक कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ हैं, ईसाइयोंमें भी हैं, परंतु उधर नेताओंका ध्यान क्यों नहीं जा रहा है? जब यह कहा जाता है कि पाकिस्तानके बन जानेपर यह देश हिंदुओंका है तो गान्धीजीकी दुहाई दी जाती है और इस देशको 'सर्व-शरण्य' बतलाया जाता है, हिंदुओंके हितकी कोई भी बात नहीं की जा सकती है, जिससे इतर लोगोंका जरा भी अहित या विरोध हो। संस्कृतको इसीलिये राष्ट्रभाषा नहीं बनाया जा रहा है कि मुसल्मानों तथा क्रिश्चियनोंको यह पसंद नहीं होगा। यह विचित्र नीति है। ऐसी दशामें धर्मप्राण हिंदुओंका क्या कर्तव्य है! क्या वे बैठे-बैठे चुपचाप देखते रहें जब कि वर्तमान सरकारके आश्रयमें ईसाई, पादरी और मुसल्मान मुल्ले जहाँ-तहाँ अबोध हिंदुओंको और विशेषतः अबलाओंको—धर्मभ्रष्ट करनेकी हरकतमें 'बाज' नहीं आ रहे हैं। गोहत्या-निरोधके आन्दोलनमें भी कोई प्रगति सरकारी बदरुखके खिलाफ नहीं हो रही है। यदि रूढ़ियोंको निरुन्मूलन करके व्यापक मानवधर्मके प्रचारके लिये सुधारवादी सरकारका ऐसा रुख होता, तो एक प्रकारसे सन्तोषकी बात होती। पर ऐसा कुछ देखनेमें नहीं आता। आज वर्तमान शासनमें ऊँचेसे नीचेतक भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अधिकांश कर्मचारी एवं कुछ हाकिम भी गंदे पैसेको बटोरनेमें लगे हुए हैं। भोली जनताका खून चूसा जा रहा है। आज तो हमारा धर्म न तो रूढ़िके रूपमें सुरक्षित है और न व्यापक मानवधर्मके रूपमें प्रकट है। वास्तवमें साम्प्रदायिक रूढ़िधर्ममें और मानवधर्ममें कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

यह निश्चितप्राय है कि गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धतिसे

इस देशका पिण्ड नहीं छूटने जा रहा है। गणतन्त्र तो और देशोंमें भी है, परंतु दूसरी जगहोंमें इस प्रकार वहाँकी प्राचीन संस्कृतिका विनाश नहीं किया जा रहा है, जिस प्रकार यहाँ किया जा रहा है। यह भिन्न-भिन्न देशोंकी परिस्थितिके कारण है। वास्तवमें उन देशोंमें भारतकी अमूल्य प्राचीन संस्कृति-जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी रक्षाके लिये वहाँके लोगोंको चिन्ता हो। अभारतीय ढंगकी विदेशी शिक्षा भी हमारे देशके धार्मिक ह्रासका कारण है। खेद है कि बारह वर्षोंके बाद भी स्वतन्त्र भारतमें शिक्षाक्रममें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीखता। देहात्मवादमूलक भोगपरक शिक्षाका दौर-दौरा है। इसीलिये सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें येन-केन-मार्गेण पैसा बटोरनेकी होड़ मची है। इसलिये आवश्यक है कि विधानमें परिवर्तन इस रूपसे किया जाय जिससे सब-के-सब सच्चे तथा वास्तविक विद्वान् और चरित्रवान् लोग ही विधायक तथा शासक बनें और शासनको वास्तविकरूपसे भारतीय बनायें।

दुःखका स्वागत कीजिये

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

यदि संसारके किसी भी भोग-पदार्थमें सुख होता तो मनुष्य सदा ही सुखकी दासतामें बँधा रहता। अतः भगवान्‌की यह बड़ी कृपा है कि सुखका कहीं भाव ही नहीं है। सुखके संयोगके साथ ही दुःख लगा रहता है। जब हम सुखकी प्रतीतिमें ही भगवान्‌को भूल जाते हैं, तब वे दयालु भगवान् हमारे उस सुखाभासको भी छीन लेते हैं और हम पूर्ण दुखी हो जाते हैं। दुःखके आते ही हम उस दुःखहारी भगवान्‌को दीनतापूर्ण स्वरसे पुकारने लगते हैं। बस, यहींसे हम वास्तविक आनन्दकी खोजमें लग जाते हैं। धन्य है दुःख और धन्य हैं वे दुःखहारी भगवान्।

यदि संयोगमें वियोग नहीं होता और वस्तुएँ परिवर्तनशील नहीं होतीं एवं दुःख अपने-ही-आप नहीं आता होता तो हम सुखके दास बनकर जडता, शक्ति हीनता और पराधीनतासे मुक्त कभी नहीं हो सकते। दुःख ही हमें दुःखसे मुक्त कराकर आनन्द-साम्राज्यकी ओर ले जाता है। अतः दुःखका हार्दिक स्वागत करना चाहिये।

यदि दुःखकी ऐसी महिमा है तो फिर हम इससे घबराते क्यों हैं? इसका उत्तर तो यही है कि हम या तो दुःखकी महिमा जानते ही नहीं अथवा हम भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे पूर्ण अपरिचित हैं। प्रभुसे प्रेरित जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब पूर्णतया मङ्गलसे ओत-प्रोत हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। यह तो हमारा ही अविवेक है, जिसके कारण हम दुःखमें अपना मङ्गल नहीं देख पाते।

संसारमें विवेकी वही पुरुष कहलाता है, जो सुख और दुःख दोनोंका सदुपयोग करता है। सुखमें उदार होना और दुःखमें त्याग करना ही सुख-दुःखका सदुपयोग करना है। त्याग ही शान्तिका जनक है। जो भगवान्‌के मङ्गलमय विधानको स्वीकार कर लेता है, वही सदा निश्चिन्त और निर्भीक रहता है।

जो पुरुष सुख-दुःखका सदुपयोग नहीं करता, वही अवनतिकी ओर जाता है। सुखका सदुपयोग न करनेसे सुख छीन लिया जाता है और दुःखका सदुपयोग न करनेसे दुःख बढ़ जाता है—यह प्राकृतिक नियम है।

जो अविवेकी पुरुष हैं, वे सुखसे तो राग करते हैं और दुःखसे द्वेष। ये राग-द्वेष ही पुरुषके पतनके मूल हैं। अतः सबका हित चाहनेवाले

दुःखहारी भगवान् पतनसे बचानेके लिये ही प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित कर देते हैं, जिसके सदुपयोगमें ही मानवमात्रका कल्याण निहित है।

जो अविवेकी हैं, वे ही दूसरोंको अपने दुःखका कारण बताते हैं; जिनमें विवेक है, वे तो दुःखको भगवान्का प्रसाद समझकर सिरपर धारण करते हैं।

संसारमें जितने भी महापुरुष हो गये हैं, वे सभी प्रतिकूल परिस्थितिको पाकर ही उन्नत हुए हैं। विश्वास न हो तो इतिहासके पन्ने उलटकर देख लीजिये।

नल-दमयन्ती और पाँचों पाण्डवोंकी कथा संसार जानता है। आज भी ऐसे-ऐसे महापुरुष वर्तमान हैं, जिनका जीवन दुःख और संकटसे ही ओत-प्रोत रहा है। जैसे आग स्वर्णको तपाकर शुद्ध कर देती है, वैसे ही दुःख मनुष्यको सब प्रकारसे शुद्ध करके उसे समाजमें चमका देता है। दुःखको सहर्ष स्वीकार कर लेना ही परम तप है। जो स्वेच्छासे तप नहीं करना चाहता, उसे भगवान् जबर्दस्ती दुःख देकर तपाते हैं। दुःख हमें त्यागकी ओर ले जाता है। यही नहीं, भगवान्की शरण भी तो हम दुःखसे घबराकर ही लेते हैं। दुःखसे दबकर जब हम दुःखहारी भगवान्की शरण हो जाते हैं, तब हमारी सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। तभी तो श्रीमद्गोस्वामीजी लिखते हैं—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

माता कुन्तीने इसीलिये भगवान्से दुःख ही माँगा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्

महात्मा कबीरदासजी भी दुःखकी ही सराहना करते हैं—

बलिहारी वा दुःखकी, जो पल पल नाम रटाय।

बोलो दुःखहारी भगवान्की जय।

दम्भ

(रचयिता—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

दम्भका कब होगा अवसान?
जहाँ दम्भकी पूजा होती, वहाँ कहाँ भगवान।

भ्रष्टाचारी हैं अधिकारी,
व्यापारी हैं मिथ्याचारी,
जनताकी अटपट लाचारी,
देश बना बेजान॥ दम्भका०॥ १॥

कहीं प्रान्तका विकट भाव है,
कहीं बिरादर-वाद घाव है,
भाषाका क्या कम तनाव है?
कैसे हो निर्माण?॥ दम्भका०॥ २॥

मानवताका काम तड़पना,
दानवताका काम हड़पना,
सबका अपना-अपना सपना,
पतन बना उत्थान॥ दम्भका०॥ ३॥

बड़े-बड़े नेता हैं आते,
मन्त्र सिखाते, पंथ दिखाते,
धक्के खाते, आयु बिताते;
तौ भी हम नादान॥ दम्भका०॥ ४॥

कब स्वदेशकी ममता होगी?
कब जन-जनमें समता होगी?
कब यह नष्ट अधमता होगी?
कब होगा कल्याण?॥ दम्भका०॥ ५॥
जहाँ दम्भकी पूजा होती, वहाँ कहाँ भगवान।

लक्ष्मी कहाँ बसती है ?

(लेखक—धर्मभूषण पं० श्रीमुकुटविहारीलालजी शुक्ल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

आज लक्ष्मीके जितने उपासक हैं, उतने किसी और देवी-देवताके नहीं हैं । स्त्री हो या पुरुष, धनवान् हो या निर्धन—सभी लक्ष्मीके कृपाकाङ्क्षी हैं। कारण यह है कि इस युगमें जितना मान धनवान्का होता है, विद्वान्का नहीं होता । यह भ्रम इतना विस्तार कर गया है कि 'मालदार' आदमी और 'बड़े' आदमी शब्द हमारी रोजकी बोल-चालमें पर्यायवाची हो गये हैं । यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी, योग्यता और मेहनतके द्वारा धनवान् होता है तो कोई आपत्ति नहीं है; परंतु आजकल तो कोई यह जाननेकी जरा भी चिन्ता नहीं करता कि किन साधनों और उपायोंसे अमुक व्यक्ति धनवान् बना है । चाहे रिश्वत ले, चाहे कम तौले, चाहे ब्लैक मारकेट करे, चाहे झूठे मुकदमे लड़कर दूसरोंका धन अपहरण करे, चाहे लूट-खसोट, चोरी-ठगी, मार-हत्या करे, चाहे खाने-पीनेकी वस्तुओं तथा दवातकमें दूसरी चीज मिलाकर देशका स्वास्थ्य नष्ट करे—पैसेवाला होना चाहिये । ऊपरसे देखनेमें तो यही प्रतीत होता है कि यदि सांसारिक ऐश्वर्य भोगना और प्रतिष्ठा बनाना चाहते हो तो चाहे जैसे भी हो, मालदार बनो । परंतु यदि गहराईसे देखा जाय और पुराने उदाहरणोंको एकत्रित किया जाय तो हमें इस परिणामपर पहुँचना पड़ेगा कि बेईमानीकी कमाई कुछ ही दिन अपना चमत्कार दिखाती है, फिर लोप हो जाती है । धन तो गायब हो ही जाता है, उसके साथ-साथ कथित प्रतिष्ठाकी भी इतिश्री अवश्य हो जाती है ।

बेईमानीद्वारा लोग जब धनवान् बनते हैं, तब दूसरे लोग कहते हैं लक्ष्मी महारानीकी उनपर बड़ी कृपा है, लक्ष्मीका उनके यहाँ वास है । परंतु उनका यह समझना भूल है । लक्ष्मी कदापि चोरों, लुटेरों और बेईमानोंके यहाँ निवास नहीं कर सकती । उनके यहाँ तो मायाका राज्य है, जिसका 'चार दिनोंकी चाँदनी, फेर अँधेरा पाख' की भाँति कुछ दिनोंतक वास रहता है, फिर कष्ट और विपत्तिरूपी अन्धकार उन्हें सहना पड़ता है ।

लक्ष्मी तो सात्त्विकी देवी हैं, उनके वासके लिये सफाई और प्रकाशकी बड़ी आवश्यकता है । दीपावली-पर इसीलिये घर-घरमें लक्ष्मीके आवाहन और पूजनके लिये पूरे तौरपर घर, वस्त्र, आभूषण और फरनीचरकी सफाई की जाती है और दीपदानद्वारा प्रकाश किया जाता है । इसी सफाई और प्रकाशको लक्ष्मी महारानीके स्वागतके लिये लोग पर्याप्त समझते हैं । परंतु यह उनकी भूल है । इस प्रकारकी बाहरी सफाई और प्रकाशकी आवश्यकता अवश्य है, परंतु यही पूर्ण नहीं है । पूर्ण सफाईके लिये तो दिलकी सफाई करना और आत्माको प्रकाशवान् बनाना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके लक्ष्मीका स्थायी वास नहीं होता । दिलकी सफाईका मतलब है निर्मल मन—जिसमें कपट-छलको कोई स्थान न हो, विचारों, वचनों और कर्मोंमें समानता हो, किसीके साथ दुर्व्यवहार, विश्वासघात न हो । सच्चा निष्कपट हितपूर्ण नम्र व्यवहार हो, सच्ची तिजारत हो । बिजलीकी रोशनी और दीपदानसे घरमें तो उजाला हो जायगा और घर सुहावना भी लगेगा । पर इससे अंदर प्रकाशकी ज्योति नहीं जगेगी, इसके लिये—असली आनन्दकी प्राप्तिके लिये पवित्र विचार और शुद्ध भावनाके द्वारा हृदयमें दैवी प्रकाश उत्पन्न करना होगा । तभी परमानन्द प्राप्त होगा । इस प्रकारकी सफाई और शुद्धिसे जब हृदय—आत्मा ओतप्रोत हो जायगा, तब वह व्यक्ति दैवीशक्तिसे सम्पन्न हो जायगा और लक्ष्मीके नित्य वासके उपयुक्त स्थान भी वही

होगा । गोस्वामी तुलसीदासजीने सत्य ही कहा है—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अब प्रश्न यह है कि हृदयकी सफाई और प्रकाशके लिये क्या करना आवश्यक है । सबसे जरूरी यह है कि गीताके आदेशानुसार मनुष्यको यथालाभ-संतुष्ट होना चाहिये । संतोष करनेसे अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य हाथ-पर-हाथ धरकर बैठा रहे और फाँके करके जीवन व्यतीत करे । संतोषका अर्थ यह है कि अपनेको पूरा परिश्रम करनेसे जो मिल जाय, उसके लिये भगवान्‌को धन्यवाद दे और उसीसे अपनी गृहस्थीका काम चलाये । ज्यादा आमदनीसे आदमी मालदार नहीं बनता, यदि खर्चपर नियन्त्रण न हो । आय चाहे कितनी कम हो, यदि खर्च उसके अंदर ही किया जाय और कुछ बचाया भी जाय तो उस दशामें उनकी बचत अवश्य होती है और थोड़ा-थोड़ा करके काफी धन इकट्ठा हो जाता है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है । आवश्यकता इस बातकी है कि अपनी इन्द्रियों और इच्छाओंपर नियन्त्रण रखा जाय, जिससे फिजूलखर्ची न हो । अपनी आय और व्ययका रोजाना हिसाब लिखनेसे फिजूलखर्चीपर नियन्त्रण हो सकता है । मितव्ययी होना बुरी बात नहीं है । बल्कि एक सद्‌गुण है । इसी प्रकार अन्य सद्‌गुण भी हैं, जिनसे बुद्धि निर्मल, हृदय शुद्ध और आत्मामें प्रकाश होता है और जो लक्ष्मीके वासके उपयुक्त स्थान बनाते हैं । महाभारत, अनुशासनपर्वके ११ वें अध्यायमें लिखा है—

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥

लक्ष्मीजी रुक्मिणीजीसे कहती हैं—'हे सुभगे ! मैं निर्भीक, चतुर, कर्ममें निरत, क्रोध न करनेवाले, देवताओंपर आस्था रखनेवाले, उपकारको न भूलनेवाले, जितेन्द्रिय और बलशाली पुरुषके पास बराबर रहती हूँ।'

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते चरान्ते ।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे
क्षान्तासु दान्तासु तथाबलासु ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु ।

मैं धर्मका आचरण करनेवाले, धर्मके जानकार, वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, आत्मविश्वासी, क्षमाशील और समर्थ पुरुषके पास रहती हूँ । वैसे ही क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय स्त्रियोंके निकट रहती हूँ । जो स्त्रियाँ सत्य बोलनेवाली और सत्य आचरण करनेवाली, छल-कपटसे रहित, सरलस्वभाववाली होती हैं एवं देवता और गुरुजनोंका पूजन और सत्कार करती हैं, उनके पास भी मैं रहती हूँ । फिर लक्ष्मीजी कहती हैं—

यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ।

अर्थात् जिस घरमें हवन किया जाता है, गौकी सेवा की जाती है और ब्राह्मणोंका सत्कार होता है, समयपर देवताओंकी पूजा की जाती है और उनको फूल चढ़ाये जाते हैं, उस घरमें मैं सदा वास करती हूँ । मैं बराबर वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके निकट रहती हूँ । अपने धर्ममें रत क्षत्रियोंके पास, खेती एवं उपार्जनमें लगे वैश्योंके और सेवापरायण शूद्रोंके पास भी मैं सदा रहती हूँ ।

लक्ष्मीजी कहाँ नहीं रहतीं, इसके विषयमें उसी पर्वमें लिखा है—

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये॥
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु॥

'मैं अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसंकर, कृतघ्न, अपनी मर्यादामें कायम न रहनेवाले, कठोर वचन बोलनेवाले, चोर और गुरुजनोंसे डाह करनेवाले पुरुषके पास नहीं रहती। मैं ऐसे पुरुषोंके पास भी नहीं रहती, जिनमें तेज, बल, धैर्य और आत्मगौरव अल्प होते हैं। जो लोग थोड़ेमें ही कष्ट अनुभव करते हैं, जरा-जरा-सी बातपर क्रोधित हो जाते हैं, उनके पास भी मैं नहीं रहती। साथ ही जिन पुरुषोंके मनोरथ सर्वदा छिपे रहते हैं, उनके पास भी मैं नहीं रहती।'

आगे चलकर लक्ष्मीजीने कहा है—

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि॥
पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि॥

'उन स्त्रियोंके निकट मैं नहीं रहती, जो अपनी गृहस्थीके सामान—बर्तन, वस्त्र आदि जहाँ-तहाँ फेंक देती हैं और सोच-समझकर काम नहीं करतीं और जो बराबर स्वामीके विरुद्ध बोला करती हैं। जिस स्त्रीका दूसरोंके घर जानेमें मन लगता है और जो लजाती नहीं, उसके निकट मैं नहीं रहती। पापिनी, अपवित्र, चटोरी, अधीर, झगड़ालू, निद्राके वशीभूत रह सदा ही सोनेवाली स्त्रीको मैं त्याग देती हूँ।'

अतः यदि हमें—चाहे हम पुरुष हों या स्त्री—स[illegible] अर्थोंमें स्थायीरूपसे धनवान् बनना है और लक्ष्मी महारा[illegible] को प्रसन्न करना है तो हमें उपर्युक्त गुणोंको धारण क[illegible] तथा अवगुणोंका त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये[illegible]

एक साधकके उद्गार

प्रभो! आपके बिना मेरे हृदयपर क्या बीतती है, कैसे बताऊँ। अपना प्रेम देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। मैं रात-दिन आपके प्रेममें डूबा रहूँ। मैं अवश्य ही इस योग्य नहीं हूँ, पर आप तो सर्वसमर्थ हैं। ब्रह्माको मच्छर और मच्छरको ब्रह्मा बना सकते हैं। आप मेरे हृदयकी मलिनताकी ओर न देखें। मेरे हृदयके किसी कोनेमें जो प्रियतम प्रभुकी मधुर स्मृति बनी है, उसीकी ओर देखकर मेरे अवगुणोंको भूल जायँ। वह मधुर स्मृति सदा सुरक्षित रहे और सदा बढ़ती ही रहे, ऐसी ही कृपा आप करते रहें। मैं हृदयको सदा अपने जीवन-धनसे भरा देखूँ और उन्हें निरन्तर हृदयमन्दिरमें पूर्णरूपसे विराजित देखकर प्रफुल्लित होता रहूँ।

प्रभो! जिस समय मधुर स्मृतिजनित आपके दर्शन होते हैं, उस समय हृदय जिस परमानन्दसे भर जाता है, वह अकथनीय है। पर दूसरे ही क्षण प्रतीत होता है कि वे तो समीप नहीं हैं, तब अपार तथा सीमारहित दुःख होने लगता है।

× × ×

मेरे मनमें शरीरके आरामकी और नामके नामकी इच्छा, बड़ाईकी कामना अभीतक जाग्रत् है, इसीसे तो निरन्तर आपका मधुर-मिलन नहीं हो रहा है। जिस दिन ये दोष समाप्त हो जायँगे, उस दिन आप मुझसे पृथक् नहीं रहेंगे। इन सारे दोषोंने बीचमें कई दीवालें खड़ी कर रखी हैं। इन लंबी ऊँची दीवालोंके रहते मैं कैसे नित्य-निरन्तर मधुर-मिलनका आनन्द ले सकता हूँ। पर इन दीवालोंको ढाहनेका काम भी तो आपहीको करना है मेरे स्वामी! आप जाँच-परख लीजिये—मेरे हृदयमें आपकी कुछ चाह है या नहीं; और यह भी देख लीजिये कि इस 'कुछ' चाहको असीम बनानेकी चाह भी है या नहीं। यदि है, तो प्रभो! आप इसे असीमरूपमें बढ़ाकर तुरंत पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।

शिवभक्त अंग्रेज-महिला लेडी मार्टिन

(लेखक—श्रीबद्रीनारायण रामनारायणजी दवे)

भारतमें ब्रिटिश साम्राज्य था। ईस्वी सन् १८८० में अंग्रेज और अफगानोंका युद्ध हुआ था। अफगान सेनापति अयूबखाँने कंदहार और झेलमकी पहाड़ीमें अंग्रेज-सेनाको बुरी तरह हराया था। किंतु अंग्रेज दृढ़ निश्चयी होते हैं और जो काम उठा लेते हैं, उसको पूरा करके ही छोड़ते हैं। इस पराजयसे अंग्रेज बहुत चिन्तित थे; क्योंकि अंग्रेज-सेनाकी वीरताका अभिमान चूर हो गया था।

उस समय मालवा प्रदेशके आगर नामक शहरके पास अंग्रेजोंकी छावनी थी। इस छावनीका सेनापति ... कर्नल मार्टिन। उसको प्रधान सेनापतिसे अंग्रेज-सेनाके साथ अफगान युद्धमें जाकर पुनः अंग्रेज-सेना-... सर्वोपरिता और शूरता दिखलानेका आदेश मिला। ... कर्नल मार्टिन अपनी सेनाके साथ कंदहार गये ...र उनकी पत्नी आगर छावनीमें रही। अफगान और अंग्रेजोंका यह युद्ध दीर्घकालतक चलता रहा। बीचमें कर्नल मार्टिनका कोई समाचार न मिलनेसे लेडी मार्टिनको बड़ी चिन्ता हो गयी।

इनको बड़ी अनिष्टाशङ्का हुई, ये सोचने लगीं—'अफगानलोग बड़े बहादुर लड़ाके हैं। फिर वह प्रदेश भी पहाड़ोंसे भरा तथा विकट है। पता नहीं उसमें मेरे पतिका क्या हाल हुआ होगा।'

इन अमङ्गल-शङ्काओंसे लेडी मार्टिनका चित्त-बेचैन हो गया। मन कहीं भी नहीं लग रहा था। इनके हृदयको पतिकी चिन्तासे कहीं भी कभी चैन नहीं पड़ती थी। न इन्हें कोई बात अच्छी लगती थी।

इस स्थितिमें एक दिन वह घोड़ेपर चढ़कर मन बहलानेके बहाने घूमनेके लिये निकल पड़ीं। आगर-छावनीसे ईशान कोणमें बागगङ्गा नदी है। आगर शहरसे डेढ़ मील दूर पहाड़ोंके बीच जंगलमें बाणगङ्गा नदीके किनारेपर श्रीबैजनाथ महादेवका मन्दिर है। लेडी मार्टिन इस बाणगङ्गा नदीके किनारे-किनारे घोड़ेपर घूमती हुई महादेवके मन्दिरके समीप पहुँच गयीं।

ऐसे घोर जंगलमें, जहाँ किसी मानव प्राणीका मिलना कठिन था, लेडी मार्टिनने मनुष्योंके बोलनेकी आवाज सुनी। अपने घोड़ेको आवाजकी दिशाकी ओर ले जाती हुई वह मन्दिरके पास आ पहुँचीं।

आकर देखा, तो एक सुन्दर मन्दिर है और मन्दिरमें एक मूर्ति है। लोग उसकी पूजा कर रहे हैं। भजन-कीर्तन हो रहा है।

लेडी मार्टिन अपना घोड़ा एक वृक्षसे बाँधकर मन्दिरके चौतरेपर बैठ गयीं। लेडी मार्टिन कुछ टूटी-फूटी हिंदी जानती थीं। एक अंग्रेज महिलाको शिव-मन्दिरमें आयी देखकर सबको कुतूहल हुआ। कुछ लोग उनके पास जाकर पूछने लगे।

लेडी मार्टिनने पूछा—'तुम सब यह क्या कर रहे हो और यह क्या है?'

ब्राह्मणोंने कहा—'यह आशुतोष भगवान् शिवका मन्दिर है और हमलोग इन सकल मनोरथ सिद्ध करनेवाले भोलेनाथ महादेवकी पूजा कर रहे हैं।'

ब्राह्मणोंकी बात सुनकर लेडी मार्टिनने शिव और शिव-पूजन-सम्बन्धी बहुत-सी बातें पूछीं। ब्राह्मणोंकी बातचीतके सम्पर्कसे लेडी मार्टिनको भी भगवान् शिवपर श्रद्धा हो गयी और उनके हृदयमें भक्तिका अङ्कुर निकल आया।

तदनन्तर उन्होंने ब्राह्मणोंसे पूछा कि 'भगवान् भोलेनाथ सबकी मनःकामना पूर्ण करते हैं तो क्या मेरी मनःकामना पूर्ण नहीं करेंगे?' ब्राह्मणोंने उत्तर

दिया—'अवश्य पूर्ण करेंगे । भगवान् आशुतोष हैं, दयालु हैं; जो भी सच्चे हृदयसे भक्ति करता है, उसपर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं । उनमें हिंदू, मुसलमान, अंग्रेज—ऐसा भेदभाव नहीं है ।'

यह सुनकर लेडी मार्टिनने अपने पतिके विषयमें बात कही और अपने मनकी चिन्ता कैसे मिटे तथा पतिकी रक्षा कैसे हो' इसका उपाय बतलानेके लिये ब्राह्मणोंसे कहा ।

ब्राह्मणने कहा—'सच्चे हृदयसे शुद्ध भक्ति भरे भावसे भगवान् भोलेनाथका ध्यान करो, 'नमः शिवाय' मन्त्रका जप करो और पूजाके लिये रुद्राभिषेक करो; बस, आपकी मनःकामना भोलेनाथ अवश्य पूर्ण करेंगे ।'

लेडी मार्टिनको भगवान् शंकरपर श्रद्धा हो गयी थी । तुरंत ही ब्राह्मणोंके द्वारा रुद्राभिषेक शुरू करवा दिया । ग्यारह ब्राह्मणोंने ग्यारह दिनोंतक रुद्राभिषेक करके पाठात्मक महारुद्र पूरा किया ।

इन ग्यारह दिनोंतक प्रतिदिन लेडी मार्टिन स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर पैदल छावनीसे मन्दिर आतीं और जबतक रुद्राभिषेक चलता, तबतक एक आसनसे बैठकर 'नमः शिवाय' मन्त्रका जप करतीं ।

महारुद्र पूर्ण हुआ । तब ब्रह्मभोजन कराकर ब्राह्मणोंको अच्छी दक्षिणा देकर जैसे ही वे छावनीमें आयीं कि एक बड़ा लिफाफा लेकर छावनीका एक क्लर्क इनके पास आकर कहने लगा—'मैडम साहिबा ! यह आपका पत्र लीजिये—कंदहार कैम्पसे आया है ।'

सरकारी पत्र था । पत्र खोलकर देखा तो अपने पतिका पत्र था और उनके ही हस्ताक्षर थे । वे परम प्रसन्न होकर पत्र पढ़ने लगीं । ज्यों-ज्यों पत्र पढ़ती थीं, त्यों-ही-त्यों उनकी खुशी बढ़ती जाती थी ।

कर्नल मार्टिनने उसमें लिखा था—'हम बहुत प्रसन्न हैं । इस महाभयंकर युद्धमें हमारी जीत हुई है और अनेक आपत्तियोंमें फँसनेपर भी अन्तमें हमने विजय प्राप्त की है । एक बार पूर्णरूपसे ऐसा अवसर आ गया कि हमें पकड़कर कैदी बना दिया गया और शत्रु-सेनाने हमें घेर भी लिया था; किंतु ऐसी घोर परिस्थितिमें हमें ऐसा लगता था कि कोई अदृश्य, अज्ञात, अद्भुत दैवी-शक्ति हमारी रक्षा कर रही है । हमें हर समय उसी दैवी-शक्तिने मृत्युके मुखसे बचाया । अब तो पूरी जीत हो गयी है । युद्ध बंद हो गया है । अब किसी प्रकारकी चिन्ता-फिक्र न करना । मैं अब अल्प समयमें वहाँ आ पहुँचूँगा ।'

कर्नल मार्टिनका ऐसा पत्र रुद्राभिषेक पूर्ण होनेपर ब्रह्मभोजन कराकर घरमें पग रखते ही मिला, इस घटनासे लेडी मार्टिनकी भगवान् शंकरपर पूर्ण श्रद्धा हो गयी ।

यह दैवी-शक्ति वे ही भगवान् शंकर थे और उन्हींका यह प्रताप था । फिर तो, लेडी मार्टिन प्रतिदिन साँझ-सबेरे श्रीबैजनाथके दर्शन करनेके लिये जातीं, दोनों हाथ जोड़कर भगवान्की प्रार्थना-ध्यान करतीं ।

थोड़े ही दिनोंमें कर्नल मार्टिन लौटकर आ गये । लेडी मार्टिनके आनन्दका कोई पार न रहा । अपने पति विजय प्राप्तकर सकुशल आ गये, इसलिये उन्होंने भगवान् शंकरका बहुत उपकार माना । उन्होंने अपने पतिसे यह बात कही । वे भी बहुत खुश हुए । पति-पत्नी दोनों नित्य भगवान् बैजनाथका दर्शन करने जाने लगे ।

एक दिन उन दोनों मार्टिन दम्पतिका ध्यान बैजनाथके मन्दिरकी ओर गया । पुराने जमानेका जीर्ण-शीर्ण शिवालय । लेडी मार्टिनके मनमें आया 'शिवालय फिरसे बनकर नया सुन्दर मन्दिर बने तो कैसा अच्छा हो ! तुरंत ही उसने अपने पतिसे कहा । कर्नल मार्टिनकी भी भगवान् बैजनाथमें वैसी ही श्रद्धा

थी। वे अपनी पत्नीके प्रस्तावसे सहमत हो गये और शीघ्र ही नया मन्दिर बनने लगा।

लेडी मार्टिन स्वयं मन्दिरके कामकी सँभाल रखतीं, निरीक्षण करतीं। सुबहसे शामतक वहीं रहतीं।

सुन्दर मजेका नया मन्दिर तैयार हो गया। पूरी धूम-धामके साथ और सम्पूर्ण विधि-विधानके साथ भगवान् बैजनाथके लिङ्गकी फिरसे प्रतिष्ठा की गयी और उसका समस्त खर्च माढन दम्पतिने किया। नया अपने द्रव्यसे बना हुआ शिवालय देखकर पति-पत्नी बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ ही समयके बाद उनको दूसरी जगह जाना पड़ा। अफगान-युद्धमें विजयकी सिद्धिमें उनको पदोन्नति मिली और अच्छी ऊँची जगहका अधिकार मिला। इसको उन्होंने भगवान् शंकरकी ही कृपा समझा।

आगर छावनी छोड़कर वे दूसरी जगह गये, किंतु भगवान् बैजनाथको नहीं भूले।

आज भी मालवाके आगर-गाँवकी बाणगङ्गा नदीके किनारे सोनेके दो कलशवाला भगवान् बैजनाथ शिवका कर्नल मार्टिनका बनवाया हुआ वह शिवालय विद्यमान है।

श्रीश्रीजयदेव महाप्रभु

(लेखक—गोस्वामीजी श्रीयमुनावल्लभजी)

[गताङ्कसे आगे]

बंगालमें श्रीपञ्चमीका उत्सव बड़ी सज-धजसे मनाया जाता है। घर-घरमें श्रीसरस्वतीकी मृण्मयी प्रतिमा बनायी जाती है। उसके सामने कलश रखे जाते हैं और गान-वाद्यके साथ पूजन होता है। आज तो उत्सवमें महोत्सवका समागम था। जबसे भोजदेव महाराजाके साथ आये थे, बंगाल और उड़ीसामें आशा लगी थी कि भगवान्‌का अवतार कब होगा। प्रभु प्रकट हो गये, यह समाचार बात-की-बातमें चारों ओर फैल गया। लोग पूजा ले-लेकर दर्शनके लिये आने लगे। जिधर देखो फूलोंकी वर्षा हो रही है, बाजे बज रहे हैं।

नामकरण

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

भीड़ चारों दिशाओंसे उमड़ पड़ी है। लोग 'जय जगन्नाथदेव' की ध्वनि कर रहे हैं। कोसोंसे भक्त पुकारते चले आ रहे हैं। 'जगन्नाथ' शब्द तो छोड़ दिया और 'जयदेव-की जय-जय' कहने लगे। रसिकाचार्यचरणका वही जनता-जनार्दनके घोषसे—निकला श्रीजयदेव नाम विख्यात हुआ। महारानी-महाराजने भी बहुत-सा दान किया। जो भी गुणी, याचक आता, खाली नहीं जाता, मानो सभी देवोंने रूप बदलकर महाप्रभुके दर्शन किये।

बाल-लीला

बाललीलामहोदारचरितस्य महाप्रभोः।
मुखाब्जमृदुहासेन तृप्ता लब्धमनोरथाः॥

आजकल महारानी-महाराजको कोई काम नहीं है, केवल श्रीजगदीश्वरके द्वारपर प्रभातसे राततक धूमको देखते रहते हैं। महाप्रभुकी मुख-माधुरी बहुत ही भोलेपनसे भरी हुई है। सुवर्णके मणिजटित कङ्कण करकमलोंमें शोभित हैं; चरणोंमें नूपुर, कमरमें करधनी, श्रीअङ्गमें पीला झगला, बड़ी-बड़ी आँखोंमें भरा हुआ काजल, मस्तकसे बाल समेटकर ऊपर बाँध दिये गये हैं, गलेमें काञ्चनका मणिजटित पदक प्रकाश कर रहा है। आपको किसीकी नजर न लग जाय, इसलिये श्रीराधा माने माथेके कोनेमें दिठोना लगा दिया है। इस प्रकार अनेक खिलौनोंसे खेलते-खेलते पाँच वर्ष बीत गये। जो भी आता है, कुछ-न-कुछ लेकर आता है। पुरीनरेश भी पधारे—दर्शन करके कृतार्थ हो गये। जिसकी गोदमें जाते हैं, उतरते नहीं। आप बाल्यकालसे ही प्राणियोंको प्रेमका पाठ पढ़ाने लगे।

विद्याध्ययन

'व्यसनद्वयमिह राजलोके संकीर्तितं पुंसाम्,
विद्याभ्यसनं व्यसनं अथवा हरिपादसेवनं व्यसनम्।'
'सा विद्या तन्मतिर्यया'

विद्याध्ययन बड़ी ही उत्तम वस्तु है, पर आजकल तो द्रव्योपार्जन करनेवालोंकी ही विद्वानोंमें गणना है ! उस 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' की शोभा तो श्रीगीताजीके पन्नोंमें ही अच्छी लगती है । श्रीजयदेव महाप्रभुको विद्याध्ययन करानेके लिये महाराजने कई विद्वान् रख दिये हैं । आप सब ग्रन्थोंका श्रवण करते हुए प्रसन्न होते तथा शिष्टाचारका पालन करते रहते हैं । दस वर्ष पूरे होते-होते आपने अध्ययनका अभिनय समाप्त किया । आप किसी भी पण्डितको देखते शास्त्रार्थ छेड़ देते । बेचारा पण्डित तो पुस्तकका पण्डित है । भोजदेवजी पण्डितोंका अच्छा सत्कार करते और दोनों माता-पिता इनको समझाते—देखो, अपने घर जो भी आता है, कुछ आशा लेकर ही आता है । सुनकर आप हँस जाते ।

यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

यज्ञोपवीत त्रिवर्णका संस्कार है । यहाँसे द्विजकी पदवी प्राप्त होती है; किंतु वेदका अध्ययन तो करना ही नहीं है । फिर इस सूत्रकी क्या आवश्यकता है ? भारतकी उच्च संस्कृतिको आजके भारतीय पुरानी रूढ़ि बतलाते हैं । अब विचार किया जाय कि पुरानी चीज पुराने घरमें ही मिल सकती है । इस संस्कारकी बहुत अधिक आवश्यकता है । यह वैदिकसूत्र धर्मशास्त्रोंका प्रधान अङ्ग पुष्ट करनेवाला है, संध्या-तर्पण-श्राद्ध आदि सभीमें प्रथम है । आज कन्दविल्वमें अच्छे-अच्छे वैदिक ब्राह्मणोंका समाज उपस्थित है । महारानी-महाराज बड़े उत्साहसे इसे सम्पन्न करा रहे हैं ।

इधर-उधर गाँवोंकी जनता भिक्षा लेकर आयी है । श्रीजयदेव महाप्रभु अभी ब्रह्मचर्यमें हैं । मुण्डन-उद्वर्तन-स्नान होते ही उन्हें पीताम्बर पहनाया गया, पादुका-दण्ड-कमण्डलु, छत्र-आसन-मेखला आदि सब वस्तुएँ सामने रखी हुई हैं । वेदध्वनि, स्वस्तिवाचनके पश्चात् आपने विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण किया और पण्डित श्रीश्रीभोजदेवजीने आपको गायत्रीमन्त्र दिया । महारानी तथा माताजीने आरम्भमें भिक्षा दी, उसके बाद सबने मनोरथ पूर्ण किया ।

दम्पतीका देवलोकवास

अद्यश्व इति पदाभ्यां यत्किञ्चिद् दृश्यते सर्वम् ।
यो नित्यं कवलयति तस्मै कालाय प्रणतोऽस्मि ॥ १ ॥

'जो कुछ भी दिखायी पड़ रहा है, उसे 'आज' और 'कल' इन दो शब्दोंसे नित्य ग्रास करनेवाले भगवान् कालदेवके लिये प्रणाम है ।'

माता-पिताकी आशालता पुष्पवती हो गयी । अब इसके फलनेकी प्रतीक्षा होने लगी ! सवेरेसे जो धूम मची है, वह अकथनीय है । अभी महाराज भी बहुत-से लोगोंके साथ एक मासपर वीरभूमि गये हैं । घरमें शान्तिका राज्य है । अचानक व्याधिमन्दिरका उत्सव प्रारम्भ हो गया ।

आज भोजदेव प्रभुने भोजन नहीं किया है । श्रीराधाजीने रसोई करके श्रीजयदेवको जिमा दिया और आपको बुलाया । पण्डितजीने कहा—वहाँ चौका लगा दो, हम जा रहे हैं । आपने कहा—'पहले भोजन हो जाय, फिर चौका लगेगा और जहाँ कहीं जाना हो, जाइयेगा ।'

आपने शीघ्र अपने हाथसे गङ्गाजल छींट दिया और श्रीजयदेव महाप्रभुका चुम्बन किया । चरणस्पर्श करते ही जय शब्द तो सुनायी पड़ा । श्रीराधाजी दौड़कर आयीं, तबतक लीला समाप्त हो गयी । श्रीराधाजी इस असह्य और अकस्मात् आयी हुई पीड़ाको नहीं सह सकीं और उन्होंने श्रीजयदेव महाप्रभुके दर्शन करते-करते प्राणोंका परित्याग कर दिया । दास-दासियोंने चीत्कार मचाया और वीरभूमि दौड़े गये । सुनकर महारानी-महाराज आश्चर्यचकित हो गये कि 'कल तो हम आये ही हैं । यह हुआ क्या, कोई अस्वस्थ भी तो नहीं थे ।'

महाराजने आकर शीघ्र सब व्यवस्था करायी तथा महाप्रभुके श्रीहस्तोंसे समस्त क्रिया सम्पादन करवायी । यहाँका कार्य करनेके पश्चात् आपके पास ही निवास किया । महारानी भी आ गयीं और आपकी सेवा करने लगीं ।

प्रसाद

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

महाप्रभुकी चरणसेवाका सुख जैसा वल्लाल दम्पतीको मिला, वैसा सभीको मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । महीनोंसे राज-काज छूटा हुआ है, अब भी आपको छोड़कर जानेको जी नहीं चाहता । दोनों आपके मुखकमलका अवलोकन करते रहते हैं । एक दिन भोजनके पश्चात् राजा-रानी चरणसेवा कर रहे थे कि आप शीघ्र ही उठकर

बैठ गये और आज्ञा दी कि 'तुमको बहुत दिन हो गये हैं; अब जाओ, राज-काज सम्हालो ।' सुनकर महाराजने कहा—'कृपासिन्धु ! अभी तो राज हम देखेंगे, आगे कौन देखेगा ?' इनके आर्त शब्दोंको सुनकर आप भी समझ गये कि ये पुत्रकी इच्छासे व्याकुल हैं ।

आपने एक ताम्बूल महारानीको दिया और कहा—खा लो; जाओ, पुत्र हो जायगा । महारानी उस महान् दिव्य प्रसादको प्राप्तकर सफलमनोरथ हो गयीं और कहने लगीं—'जगन्नाथ ! आपकी सेवासे किसे क्या नहीं मिला ? आपश्रीकी कृपाका आश्रय ही जीवका आश्रय है । कई दिन फिर बीत गये । तदनन्तर दास-दासियोंका सुन्दर प्रबन्ध करके आपश्रीके आज्ञानुसार बल्लालसेन श्रीमहारानीको लेकर वीरभूमि चले गये ।

समाचार बराबर आते हैं । बीच-बीचमें महाराज स्वयं दर्शन कर जाते हैं । महारानी गर्भवती हैं, यह सुनकर राजाकी प्रजा जय-जयकार करती है ।

वीरभूमिकी बधाई

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

बल्लालसेन महाराजके दरवाजेपर आज बड़ी धूम है । कितने बाजे-गाजे, नाच-गान करते गुणी याचक आते हैं । सभीका सत्कार हो रहा है । वृद्धावस्थामें श्रीमहारानीके भाग जागे । पुत्रोत्सवका चाव किसे नहीं होता । फिर राजघरानेका तो कहना ही क्या ।

रात्रिके तीन बजे कुमार लक्ष्मणसेनका जन्म हुआ । महाप्रभुजीके समीप समाचार तो पहुँचा दिया; किंतु आपश्रीको एकान्त अच्छा लगता है, इस कारण अभी बुलवाया नहीं । नामकरण-उत्सव बड़े ही उत्साहसे हो रहा है, महाप्रभु भी पधारे हैं । आपके श्रीचरणोंमें कुमारको रखकर आशीर्वाद प्राप्त किया और कन्दबिल्व आपश्रीके चरणोंमें भेंट कर दिया । इसके बाद एक वर्षतक आप वीरभूमिमें ही विराजमान रहे और आपके इच्छानुसार यहाँ-वहाँ आना-जाना होता रहा । इस प्रकार आनन्दका संचार पाँच वर्षतक बना रहा । महारानी कुमारको लेकर कन्दबिल्व जब भी पधारती हैं, दस-पाँच दिन श्रीमहाप्रभुकी सेवा किया करती हैं । जिस सेवाको पानेके लिये देवता भी तप करते हैं, वही श्रीवासन्तीमणिको सुलभ हो रही है । आपका तो स्वार्थ-परमार्थ इन्हीं श्रीचरणोंकी रेणुमें है ।

निरञ्जनका उद्धार

निन्दक पापी पतित अति पामर नर सिरमौर ।
श्रीजयदेव प्रताप बल भये और तें और ॥

कन्दबिल्वमें बस्ती तो थी; किंतु बहुत थोड़ी थी । जबसे महाप्रभुका प्रादुर्भाव हुआ है, चारों ओर घनी बसावट हो गयी है । सभी आपके सेवक हैं, नित्य दर्शन करने आते रहते हैं । आपके आदेशसे सबका आनन्दमय जीवन बीत रहा है । किसीको कोई भी कामना नहीं है ।

कन्दबिल्व आपकी भेंटमें आ चुका है; परंतु आपको तो किसीकी भी भेंट नहीं चाहिये । घर भरा हुआ है, पर उसमें किसी प्रकारका मोह नहीं है । दरवाजा खुला पड़ा रहता है । सेवक रसोई बनाकर भोजन करा देते हैं तो कर लेते हैं, अन्यथा भूखे ही पड़े रहते हैं ।

घरमें किसी भी चीजकी सम्हाल नहीं है । किसीको भी कमी आवश्यकता हो, इच्छानुसार ले जाता है; पूछनेकी जरूरत नहीं है । यहाँतक कि जो रखवाली करनेको रखे गये हैं, वे ही चोरी करते हैं; परंतु आप जानकर भी किसीके कार्यमें बाधा नहीं पहुँचाते ।

एक चोरोंका सरदार था; आपकी इस प्रकारकी स्थिति देखकर उसका मन चल गया कि हम भी कुछ हाथ लगायें । उसका यही काम था कि खूब पीकर मदान्ध हो जाता और बाजारमें गरीब गृहस्थोंको तंग करता । लोगोंकी पुकारसे दो-एक बार उसे जेलयात्रा भी करनी पड़ी, परंतु वह तो इसको और निर्लज्ज बनानेमें सहायक हो गयी ।

अबकी बार इसकी भारी भयंकरतासे भयभीत हो भक्तोंने भगवान्से पुकार की । सुनकर महाप्रभु हँस गये । लोगोंने कहा—'कृपानाथ ! इस दुष्टसे प्राण बचें तो कन्दबिल्वमें रहना हो । किसीकी भी बहू-बेटी हो, सभीका अपमान करता रहता है ।' महाप्रभुने कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।

एक दिन अपने-आप ही वह श्रीचरणोंके सम्मुख आ गया और बड़े तावसे बोला—'देखो जयदेव ! तुम्हारे पिताने हमसे हजार रुपये लिये थे, यह बात हम महाराजको भी सुना देंगे या तो व्याज समेत रुपये दे दो, नहीं तो हम प्रभु महाप्रभु कुछ भी नहीं समझेंगे; बोलो क्या, कहते हो ?'

आपश्रीने मन्द-मन्द मुसकाकर कहा—'भैया निरञ्जन ! तुम देखते हो, रुपये तो हमारे पास हैं नहीं; किंतु घरमें कई हजारका सामान पड़ा होगा । तुम्हारे रुपये भर जायँगे, सुखसे ले जाओ ।' अब क्या था, वह तुरंत बैलगाड़ी ले आया और बड़ी कीमती-कीमती चीजें उसमें रखने लगा । इसे थका हुआ देखकर आपने भी अंदरसे सामान ला-लाकर गाड़ीमें खूब भर दिया ।

वह जैसे ही गाड़ी ले जानेको हुआ कि उसकी लड़की रोती हुई आयी और बोली—दादा ! घरमें आग लग गयी, जल्दी चलो ।' वह दौड़ा । आपश्री उससे आगे दौड़े, जाकर अग्निमेंसे उसके बच्चोंको बाहर ले आये । उस अद्भुत कृपाका परिणाम यह हुआ कि वह महापापी आपके श्रीचरणोंमें 'हाय' करके गिर गया । आपने उठाकर उसे छातीसे लगाया और कहा—'घबराओ नहीं, निरञ्जन !' वह सदैवके लिये साधु बन गया और आपका जय-जयकार हुआ।

श्रीपुरुषोत्तमपुरी-प्रयाण

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिसुजीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥

श्रीपुरुषोत्तम श्रीजयदेव-स्वरूपसे नित्य नयी लीला करते हैं । आपने अकस्मात् ही दास-दासियोंको बुलाया और कहा—'हम पुरीको जा रहे हैं । वीरभूमिसे कोई आये तो समाचार कहला देना ।' इधर आपका पधारना, उधर महाराजका खोज कराना । जिसे योगी ध्यानमें भी नहीं पाते, उसे राजा-महाराजा कैसे पा सकते हैं । कहीं पता न लगा, महाराज अत्यन्त चिन्ताकुल हो गये कि 'हमसे ऐसा क्या अपराध बना जो प्रभु बिना कहे ही चले गये ?'

प्रभुने जंगलोंमें पाँच वर्ष बिता दिये । भक्तोंने आपका दर्शन पाते ही आपके इच्छानुसार समुद्रतटपर एक झोंपड़ी एकान्त निर्जन स्थानमें बनवा दी । आपको तो राजमहल और झोंपड़ी एक-से ही हैं । लोग समझते थे कि उच्च कोटिके संत हैं; परंतु साक्षात् जगदीश ही रसिकाचार्य बने हुए हैं, इस बातको विरले ही लोग जानते थे । फिर भी आपकी नीची दृष्टिवाली मूर्ति देखकर भावना सभीकी भरपूर थी ।

श्रीपद्मावती-परिणय

संतानहीन सुदेव शर्मा सस्त्रीक श्रीजगदीशपुरीमें दक्षिणसे आकर बस गये थे । आपने श्रीजगन्नाथजीसे कभी प्रार्थना की थी—'नाथ ! यदि मेरे घर कोई संतान होगी तो प्रथम संतति श्रीचरणोंकी सेवा करनेके लिये दे दूँगा ।' समय पाकर पहिली प्रजा पुत्री पैदा हुई । जब वह विवाह योग्य हो गयी, तब श्रीजगदीशके समक्ष उसे खड़ी करके वे कहने लगे—'भगवन् ! लीजिये, यह आपकी सेवामें उपस्थित है ।'

उसी रात्रिमें स्वप्न हुआ और श्रीहरिने आज्ञा दी कि 'सुदेव ! श्रीजयदेव मेरे ही स्वरूप हैं, इसे उनको भेंट कर दो । मेरी स्वीकृति समझ लेना ।' रात्रि किसी प्रकार व्यतीत हो गयी । सवेरा होते ही उस ब्राह्मणने मन्दिरमें आकर खोज की कि रसिकाचार्य श्रीजयदेव महाप्रभु दर्शन करने आते हैं कि नहीं । जिसने उन्हें जहाँ देखा था, वहाँका पता बता दिया । पर वे कहीं नहीं मिले । आठ दिनोंतक घूमते-घूमते थककर ब्राह्मण देवता स्त्री-पुत्रीसहित वन-भ्रमण करते आ रहे थे । सामने ही एक वृक्षके नीचे श्रीजयदेवजीको विराजमान पाया । देखकर वे प्रसन्नतासे उछल पड़े । सोचा कि अब काम बन गया । आपके पास आकर सबने श्रीचरणोंमें प्रणाम किया और श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञाका सब समाचार कह सुनाया । महाप्रभुने कहा—'आज्ञा अवश्य दी होगी, किंतु उन्हींके पास ले जाओ ! मैं इसके लिये तैयार नहीं हूँ ।' इतना कहकर वे चुप हो गये ।

ब्राह्मण दम्पति बड़े दुखी थे । कई दिनोंसे वन-वन भटक रहे थे । आज दर्शन हुए तो यह कठिनाई सामने आयी । ब्राह्मणने अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिये लड़कीसे कहा—'बेटी पद्मावती ! देखो, ये ही तुम्हारे पति हैं, तुम इनकी सर्वदा सेवा करना ।' यह कहकर ब्राह्मण हृदयको कठोर बनाकर कुछ दूर जाकर बैठ गये ।

सामने खड़ी श्रीपद्मावतीसे आपने कहा 'जाओ, तुम्हारे पिता तो चले गये ।' श्रीपद्माजीने कहा—'श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञासे वे मुझे आपके लिये दे गये हैं ।' आपने कहा—'चलो, आज उन्हींके पास झगड़ा निपटेगा । वे चाहें, सोलह हजार विवाह करें । मैं इस झंझटमें नहीं पड़ना चाहता ।'

इस प्रकार बातचीत करके वे भोगके समय मन्दिरमें घुस गये । पंडोंके रोकनेपर भी नहीं माने । तब पंडोंने आपको लाठियोंसे मारा । खून बहने लगा । पद्मावती रोती-चिल्लाती थी—'मेरे स्वामीको मत मारो; अरे ! ऐसे निर्दय क्यों हो गये हो ?'

पर वहाँ कौन सुनता था। आपको मन्दिरसे बाहर निकाल दिया गया। इतनेमें सस्त्रीक सुदेव शर्मा भी आ गये और वे बहुत रोने लगे। दूसरे लोगोंको भी पंडोंका यह काम अच्छा नहीं लगा। भक्तोंने आपका श्रीअङ्ग पोंछा और दूसरे वस्त्र धारण कराये। आप मौन धारणकर द्वारपर ही बैठ गये। दर्शक घेरे खड़े थे। इतनेमें ही श्रीजगन्नाथजीके दर्शन खुले। सब लोग चले गये; किंतु पं० सुदेव शर्माने आग्रह किया कि 'घरपर पधारिये।' आपने कहा—'अभी नहीं।'

उधर पुरी-नरेश श्रीजगदीशका दर्शन करने आये और भगवान् श्रीजगन्नाथजीके वस्त्र रक्तसे सने हुए देखकर आँसू बहाने लगे। तदनन्तर श्रीपुरुषोत्तमके पदपद्ममें पड़कर प्रार्थना की—'नाथ! यह क्या हुआ? कौन-सा भारी अनिष्ट होनेवाला है?' तब जगदाधारने कहा कि 'इन पंडोंने मुझे मारा है।' नरेशने क्रोधसे लाल नेत्र करके पंडा-पुजारियोंको डाँटा कि 'यह तुमने क्या किया?' पंडे लोग काँप गये। बड़े दीन बनकर कहने लगे—'नाथ! हमने आपको कब मारा था? ऐसी आप लीला क्यों दिखलाते हैं? इससे तो हमारा सर्वस्व नष्ट हो जायगा।'

भगवान्ने गम्भीर वाणीसे कहा—'रसिकाचार्य श्रीजयदेव महाप्रभु मेरे ही स्वरूप हैं, उनके शरीरपर की गयी चोट मेरे ही अङ्गमें लगी है!' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। महाराज शीघ्र ही आपकी खोजमें बाहर आये और श्रीजयदेव महाप्रभु और श्रीपद्मावतीजीको अपने साथ भीतर ले गये और श्रीजगदीशके मन्दिरमें आपश्रीको विराजमान करके भोग लगाया तथा बड़ी धूमके साथ दोनोंको पालकीमें बिठाकर पुरीमें सवारी निकाली। उस दिनसे मन्दिरमें आपके लिये चौकी बिछायी जाती और आपकी समय-समयर सेवा होती। इस चरित्रको देख सुदेव-दम्पति जन्मजन्मान्तरके पुण्यका फल पा गये।

वैशाखका महीना था। पूर्णिमाकी रात्रिमें श्रीपद्मावतीजीको साथ लेकर आप निर्जन वनमें भ्रमण करने निकल गये—श्रीब्रह्माजीके द्वारा आपका विवाह पुरीके जनकपुरमें कराया गया। इसीमें सुदेव शर्मा रहते थे। इसीसे श्रीपद्माजीके पिता यानी जनकका पुर विख्यात हो गया।

(क्रमशः)

कुबुद्धि

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।

वह कौन है, कहाँका है, कैसे आया है और क्यों आया है इस दुर्गम प्रदेशमें—कोई नहीं जानता। सच तो यह है कि इन याक तथा भेड़ोंके झुंड चराते, इधर-उधर तम्बू लगाकर दस-बीस दिन रुकते हुए घूमनेवाले तिब्बती लोगोंके पास उसका परिचय जाननेका कोई साधन भी नहीं है। वह उनकी भाषा नहीं जानता और वे लोग उसकी गिटपिट समझ नहीं पाते।

तीन-चार दिनके अन्तरसे वह उनके पास आता है। एक ही क्रम है उसका—चुपचाच सोनेका एक सिक्का फेंक देगा तंबूवालोंके सामने और अपना विचित्र वर्तन रख देगा। उसे ढेर-सा मक्खन, दूध और दही चाहिये और कुछ सत्तू भी। उसकी अभीष्ट वस्तुएँ सरलतासे मिल जाती हैं। एक बार किसी तंबूवालेने चमड़े, चँवर तथा मांस सामने लाकर रख दिया—कदाचित् इन वस्तुओंका भी वह ग्राहक बन जाय; किंतु उसने अपनी भाव-भङ्गीसे प्रकट कर दिया कि उसे यह सब नहीं चाहिये।

तिब्बतकी सर्दीमें दूध-दही महीनों खराब नहीं हुआ करते। वह खरीदे मक्खन, दूध आदि उठा लेता है और चुपचाप चला जाता है—चला जाता है दुर्गम पहाड़ोंकी ओर, उन पहाड़ोंकी ओर जिधर जानेमें ये पर्वतीय लोग भी हिचकते हैं।

सुना है वहाँ बहुत दूर किसी हिमाच्छादित गुफामें एक कोई पुराना भारतीय 'लामा' रहता है। बड़ा सिद्ध लामा (योगी) है वह। अवश्य यह गोरा साहब उसीके पास रहता होगा।

तिब्बतके इन सुदृढ़काय श्रद्धालु जनोंमें इस गोरे साहबके लिये सम्मानका भाव उत्पन्न हो गया है। ऊनी पतलून, ओवरकोट, टोप आदि पहिने उनके बीच सप्ताहमें एक बार आनेवाला यह साहब—उसके सम्बन्धमें बहुत कुतूहल है इनके मनमें। किंतु कोई साधन नहीं साहबसे कुछ जाननेका।

हिमकी शीतलतासे उसका मुख, उसके हाथ झुलसकर काले-से पड़ गये हैं—यह तो स्वाभाविक बात है; किंतु उसका एक कान नुचा-कटा है। आधी नासिका है ही नहीं। एक नेत्र इस प्रकार फटा है जैसे किसीने नोच लिया हो। कपोल दोनों कटे-फटे हैं और मुखमें सामनेके दाँत हैं ही नहीं।

'वह अवश्य कभी रीछसे भिड़ गया होगा।' इन पर्वतीयोंके जीवनकी जो सामान्य घटना है, उसीकी कल्पना की गोरे साहबकी आकृतिको देखकर इन्होंने—'रीछने उसे नोचा-खसोटा और लड़ाईमें पहाड़से वह लुढ़क गया नीचे। दाँत पत्थरकी चोटसे टूट गये; किंतु रीछसे उसके प्राण बच गये।' अपनी कल्पनाको उन्होंने घटना मान लिया है और गोरे साहबके इस साहसने उन्हें उसके प्रति अधिक श्रद्धालु बनाया है!

× × ×

'कोई योगी—हिमालयका कोई योगी ही मेरी इच्छा पूरी कर सकता है।' उसका निश्चय भ्रान्त था, यह आप नहीं कह सकते—'वह जैसे भी मिलेगा, मैं उसे पाऊँगा और जैसे भी खुश होगा, खुश करूँगा।'

वह कैसे पहुँचा तिब्बतके इन पर्वतोंतक और कैसे उन हिमगुफामें स्थित योगीके दर्शन कर सका, एक लंबी कथा है। उसे यहाँ रहने दीजिये। तिब्बती चरवाहोंकी जनश्रुति भारतके पर्वतीय जनोंमें प्रायः पहुँच जाती है और वहीं उसने भी दुर्गम पर्वतकी गुफाके 'लामा' की चर्चा सुनी थी। जिसे कष्ट डिगा नहीं पाते और मृत्यु कम्पित नहीं कर पाती—कौन-सा लक्ष्य है, जिसे वह प्राप्त नहीं कर सकता।

गुफातक वह पहुँचा और आज तीन महीनेसे इस गुफामें ही डेरा डाले पड़ा है। साथ जो सोनेके सिक्के ले आया था, उनकी संख्या घटती जा रही है और वह समझ नहीं पाता, वह क्या करे।

गुफाके भीतर योगी हैं। एक शिलापर स्थापित मूर्तिके समान निष्पन्द, निश्चेष्ट, स्थिर आसीन। वह नहीं कह सकता, वह योगीका जीवित शरीर है या निष्प्राण। उसने पढ़ा है—भारतीय योगी प्राणको रोककर वर्षों निष्प्राणके समान रह सकते हैं और कोई निष्प्राण देह भी इस हिम-प्रदेशमें विकृत तो होनेसे रहा।

गुफा उसने स्वच्छ कर दी है। शिलापर मूर्तिके समान जो योगीका निश्चल देह है, डरते-डरते उसे उसने धीरे-धीरे साथ लाये स्टोवपर जल गरम करके तौलियेसे प्रक्षालित किया। अब तो तेल समाप्त होनेसे स्टोव उपेक्षित पड़ा है। इससे अधिक कोई सेवा वह इन मूर्तिप्राय महापुरुषकी सोच नहीं पाता।

प्रतीक्षा—प्रतीक्षा ही कर सकता था वह और अब संसारमें लौटकर करना भी क्या था। उसकी प्रतीक्षा न भी सफल हो, इस शिलातलपर आसीन योगीके पदोंमें अनन्त कालतक अविकृत पड़ा रहेगा उसका निष्प्राण शरीर। यहाँसे वह लौटेगा नहीं। ऐसा कुछ नहीं होना था। सृष्टिका एक संचालक है और वह दयासिन्धु है। दृढ़व्रतीको उसने कभी निराश नहीं किया है। उस दिन वह गुफा प्रकाशसे भर उठी। शिलातल-समासीन योगीका शरीर-जैसे सूर्यके समान प्रकाश-पुञ्ज बन गया। देखना सम्भव नहीं था उनकी ओर। गोरा साहब हाथोंसे नेत्र ढककर, घुटनोंके बल भूमिपर सिर रख-कर प्रणत हो गया उन तेजःपुञ्जके सम्मुख।

'वत्स!' प्रणवके सुदीर्घ गम्भीर नादके अनन्तर श्रवणों जैसे अमृतधारा पहुँची। एक क्षण, केवल एक क्षण रुकक[illegible] वे सर्वज्ञ उसीकी भाषामें उसे सम्बोधित कर रहे थे। आँसु[illegible] से भीग गया उसका मुख और वह बोलनेमें असमर्थ हो गया।

'मैं यहूदी हूँ। अपने घरसे, देशसे निर्वासित असहाय, अत्याचारका मारा एक अधम।' कठिनाईसे गद्गदकण्ठ वह बोला—'आपकी शरण आया हूँ। आपके अतिरिक्त उन पिशाचोंसे कोई मेरा प्रतिशोध नहीं दिला सकता।'

योगी सुनते रहे नीरव और वह कहता गया—'मैं जर्मन यहूदी देशके प्रति कभी अकृतज्ञ नहीं रहा; किंतु हिटलरकी शक्तिसे आज संसार संत्रस्त है। उसके अत्याचारोंका किसीके पास प्रतीकार नहीं। फासिस्ट पिशाचोंने मेरी पत्नी—मेरे बच्चे-की जो दुर्गति की—वे उनकी हत्या कर देते तो मैं उन्हें क्षमा कर देता; किंतु उन्होंने जिस प्रकार उन्हें मारा और मेरा यह शरीर—गीध मुर्दे नोचते हैं और मेरे जीवित शरीर-को उन्होंने चिमटोंसे नोचा, हंटरोंसे पीटा! मुखपर हुए अत्याचारोंकी सीमा नहीं है! उनपर प्रलयकी वर्षा हो!' उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे और थर-थर काँप रहा था वह क्रोधसे।

'मैं यहाँतक पहुँच नहीं पाता; किंतु मुझ गृहहीनकी जो सेवा, जो सहायता उदार पुरुषोंने की—मैं उनका कोई

प्रत्युपकार नहीं कर सका। उन्होंने मुझे सम्मान दिया, सुविधा दी—मेरी शुश्रूषा की। आपका आशीर्वाद उनका उत्थान करे!' वह तनिक शान्त हुआ। 'अपने जीवनके लिये मुझे कुछ नहीं चाहिये।'

'भोले बच्चे!' स्निग्ध शान्त स्वर था उन महायोगीका। 'तुम अपने भूतकालको एक बार अनावृत देखो।'

जैसे वह कोई स्वप्न देखने लगा हो, उसी क्षण ऐसी अवस्था उसकी हो गयी।

× × ×

पशुओंके घेरेके समान कँटीले तारोंका घेरा और उसमें सैकड़ों स्त्री-पुरुष-बच्चे। वह दासप्रथाका युग—घोड़ेपर चढ़ा, हंटरोंसे उन्हें पीटता-हँसता निरंकुश रशियन जमीदार—पशुओंके साथ भी इतनी निर्दयता कोई कदाचित् ही करे।

वह एक शिशु गिरा और उसके पेटपर घोड़ेकी टाप [पड़]ी। फटसे निकल पड़ीं अँतड़ियाँ। उसकी असहाय [मा]ता, किंतु पिशाच घुड़सवारने उस अबलाको भी [कु]चल दिया घोड़ेके पैरोंके नीचे। अट्टहास करते [उस]के पीछे घोड़ेपर सवार उसके दोनों सहकारी और [उस] महिलाका पति कुछ कहने जब सम्मुख आया''

किंतु चीत्कार कर उठा गोरा साहब। वह यह सब देखनेमें समर्थ नहीं था। उसकी सम्मोहन निद्रा भङ्ग हो गयी।

'दूसरा कोई नहीं, तुम स्वयं हो वह घुड़सवार!' योगीने शान्त स्वरमें कहा। 'तुम्हारे सहकारी ही इस बार तुम्हारे स्त्री तथा पुत्र हुए थे।'

स्तब्ध रह गया वह। फटे-फटे नेत्रोंसे उन महातापसकी ओर देखता रह गया। वे कह रहे थे—'वृद्धावस्थामें सद्बुद्धि आ गयी। तुमने जीवनका कुछ भाग पीड़ितोंकी सेवा एवं सहायतामें व्यतीत किया। अकेले तुम नहीं—आज तो तुम्हारे सहधर्मी भी उत्पीड़ित हुए हैं। उनकी भी लगभग ऐसी ही कथा है।'

'हे भगवान्!' दोनों हाथोंसे उसने सिर पकड़ लिया। उसे लगा कि गुफाकी भित्तियाँ घूमने लगी हैं।

'कोई दूसरा किसीको सुख-सम्मान नहीं देता। कोई दूसरा किसीको दुःख, पीड़ा या अपमान भी नहीं दे सकता। दूसरे केवल सुख या दुःखके निमित्त बनते हैं।' योगी स्नेह-पूर्ण स्वरमें समझा रहे थे। 'तुम्हारे कर्म ही तुम्हारी ओर लौटते हैं और तुम्हें सुख या दुःख देते हैं।'

'दीवालपर मारे गेंदके समान!' वह अपने-आप बोल उठा था।

'हाँ! ठीक समझा तुमने!' योगी अब कह रहे थे—'तुम अब क्या चाहते हो?'

किंतु अब वह क्या चाह सकता था? उसने कहा—'कितना मूर्ख था मैं! कितनी बड़ी थी मेरी कुबुद्धि!' और उसने उन महायोगीके चरणोंपर मस्तक रख दिया।

तिब्बतके याक एवं भेड़ोंके चरवाहोंके किसी तंबूके समीप उनका परिचित गोरा साहब आगे कभी नहीं आया। उन्होंने अपना संतोष कर लिया—'वह कहीं पर्वतसे गिर गया या बर्फमें दब गया।' वह भी एक गुफामें साधना-मग्न हो गया, यह जाननेका साधन भी क्या था उनके पास।

मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं

मैं भगवान्का हूँ। भगवान् मेरे हैं। इसका अब मुझे भलीभाँति परिचय प्राप्त हो रहा है। इसीसे अब अन्य सभी स्थानोंसे, पदार्थोंसे, प्राणियोंसे और परिस्थितियोंसे मेरी ममता हट रही है। इसीलिये मेरे ऊपरसे प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिका अधिकार उठा जा रहा है। मेरा यह निश्चय-ज्ञान बड़ी द्रुत गतिसे अनुभवरूपमें परिणत हो रहा है कि मुझपर भगवान्के सिवा अन्य किसीका भी कुछ भी अधिकार या आधिपत्य नहीं है; क्योंकि मैं भगवान्का हूँ। और किसी भी वस्तुको अब यह कहते नहीं सुनता कि 'मैं तुम्हारी हूँ या तुम मुझे अपनी बना लो; क्योंकि एकमात्र भगवान् ही मेरे हैं। भगवान्के सिवा और कुछ भी मेरा है ही नहीं।

मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं। मैं केवल भगवान्का ही हूँ और भगवान् केवल मेरे ही हैं।

मेरा 'अहं' बोलता है

[मद, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

(४)

'अहं'का निरसन ही तो मूल समस्या है। इससे छुटकारा पाये विना गति नहीं। पर इससे छुटकारा मिले कैसे ? बड़ी कटोर साधना अपेक्षित है इसके लिये। कहा गया है—

रोड़ा हो रहु बाटका तजि आपा अभिमान।
ऐसा साधू जो भया, ताहि मिले भगवान॥

अहंकार और अभिमानको त्यागकर मनुष्य अपनेको इतना नम्र बना ले, जैसे रास्तेका रोड़ा, कंकड़, पत्थर। चाहे जो आकर दो लात लगा दे; चाहे जो आकर ठोकर मार दे; वह निर्विकारभावसे सब सहन कर ले। साधनाका ऐसा पथिक भगवद्दर्शनका अधिकारी बनता है।

परंतु नम्रताकी मंजिल यहींपर रुक नहीं जाती।

(१)

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
साधू ऐसा चाहिए, ज्यों पैंडे की खेह॥

× × ×

रोड़ा पैरमें चुभता है; पर वह साधक ही क्या जो किसीको चुभे ? उससे तो किसीको कष्ट पहुँचना ही न चाहिये। 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'—शर्त है उसके लिये। तब रोड़े-जैसी कड़ाई कैसे चल सकती है ?

उसे तो राखकी तरह, खेहकी तरह मुलायम होना चाहिये।

× × ×

पर इतनेसे भी न चलेगा।

खेह भी तो उड़-उड़कर शरीरपर पड़ती है।

खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागे अंग।
साधू ऐसा चाहिए, जैसे नीर निपंग॥

पर, पानीसे भी कैसे चलेगा ?

वह भी ठंढा-गरम होता है।

नीर भया तो क्या भया, ताता-सीरा होय।
साधू ऐसा चाहिए, जो हरि ही सा होय॥

× × ×

साधक न ठंडा हो न गरम। विष्णुकी तरह भृगुकी लात सहन ही न करे, उसे पकड़कर सहलाने भी लगे—'महाराज, मेरी वज्र-सी कठोर छातीमें लगनेसे आपके चरण-कमलको दर्द न होने लगा हो !'

× × ×

(२)

पर विष्णुके और काम भी तो हैं।

साधुको, साधकको उनसे क्या लेना-देना।

हरी भया तो क्या भया, करता भरता होय।
साधू ऐसा चाहिए, हरि भज निर्मल होय॥

× × ×

पर, मंजिल अभी भी दूर है।

निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल माँगे ठौर।
मल-निर्मल ते रहित हैं, ते साधू कछु और॥

साधुको मल-निर्मलसे भी ऊपर उठना है।

× × ×

निरहंकारिताकी ऐसी साधना हो, तब कुछ बात बने। यहाँ तो हमारा 'अहं' ही कदम-कदमपर बोलता रहता है। जरा-सा कोई काम हमारी मर्जीके खिलाफ हुआ, हमारी इच्छाके विरुद्ध हुआ, हमारी मान-प्रतिष्ठाके खिलाफ हुआ, हमारे स्वार्थके विरुद्ध हुआ कि हमारा 'अहं' फुफकार उठा।

घर-बाहर, सड़क-मैदान, दफ्तर-कारखाना—जिधर देखिये, रोज ही नहीं, हर घड़ी नमूने हाजिर हैं !

जरा-सी असावधानी हुई कि मद महोदय सामने खड़े नजर आते हैं।

(३)

पढ़े-लिखे विद्वान्, परम सुशील और सदाचारी, साधु और महात्माके नामसे पुकारे जानेवाले असंख्य लोग भी इसके अपवाद नहीं।

आयेदिन हम सब इसके शिकार बनते रहते हैं, पर जरा छेड़ दीजिये कि घमंड तो रावणका भी नहीं रहा, आप किस खेतकी मूली हैं—फिर देखिये हमारी लाल आँखें।

बड़ा व्यापक क्षेत्र है हमारे इस 'अहं'का ।

गीता कहती है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।
(३ । २७)

सामर्थ्य एक पत्ती भी हिलानेकी नहीं; पर मनुष्य मानता है यह कि सारी दुनिया मेरे इशारोंपर नाचती और नाच सकती है । और तभी तो वह जमीन-आसमानके कुलाबे एकमें मिलानेके लिये हमेशा बेचैन रहता है ।

कहता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
(गीता १६ । १३—१५)

आज मैंने यह पाया, कल यह पाऊँगा । आज मेरे पास इतना बैंक बैलेंस है, कल इतना हो जायगा । आज मैंने इस दुश्मनको यों ढेर किया, कल उस दुश्मनको मिट्टीमें मिला दूँगा । क्या नहीं हूँ मैं ? ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यशाली हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ !······

'मैं' और 'मेरे' की यह परम्परा रात-दिन चलती रहती है । मनुष्य इसीके चक्करमें हमेशा डूबता-उतराता रहता है ।

× × ×

इस 'मैं' और 'मेरे'से छुटकारा कैसे मिले ?

छुटकारा मिलेगा इस मूल 'मैं' को पकड़नेसे ।

"मैं कौन हूँ ?" 'Who am I', 'कोऽहं'—इस प्रश्नपर ज्यों-ज्यों हम विचार करेंगे, त्यों-त्यों 'मैं' का बाहरी चक्र ढीला पड़ता जायगा और भीतरी चक्र समझमें आने लगेगा ।

× × ×

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

'मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर, इन्द्रियाँ, विषय, पञ्चतत्त्व आदि कुछ नहीं । मैं इन सबसे परे हूँ—सच्चिदानन्द-रूप, शिवरूप । मैं शिव हूँ, शिव हूँ, शिव हूँ !

× × ×

मन और इन्द्रियोंके विषय तभीतक हमपर हावी रहते हैं, जबतक मनुष्य अपने आत्मस्वरूपको पहचानता नहीं । वह अपनेको खोजे, अपना पता लगाये, अपने 'अहं' का विश्लेषण करे, अपनी वृत्तियोंको देखे तो उसे पता चल जायगा कि वह तो इन सबसे परे है, एकदम परे ! फिर कहाँ रहेगा राग-द्वेष, कहाँ रहेगा लोभ-मोह, कहाँ रहेगा मद-मत्सर ? विकारोंका यह खेल तो तभीतक चलता है, जबतक हम अपनेको शरीर मानते हैं अथवा मन, बुद्धि, चित्त या अहंकारके हाथका खिलौना मानते हैं । अपने स्वरूपकी खोज करते ही पाँसा एकदम पलट जाता है । वही हाल होता है —

उसे खोजते 'मीर' खोये गये,
कोई देखे इस जुस्तजूकी तरफ़ ।

आइये, हम सब अपने आपको खोजें और तबतक अपनी यह खोज जारी रखें जबतक अपनेको पा न लें ।

फिर तो हमारे रोम-रोमसे एक ही ध्वनि निकलेगी—

शिवोऽहम् ! शिवोऽहम् !! शिवोऽहम् !!!

मैं सदा भगवान्में ही रहता हूँ

मैं कहीं भी रहूँ, कब भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, रहता हूँ केवल भगवान्में ही । मैं अब इस सत्यको जानता ही नहीं हूँ—देखता भी हूँ कि ऐसा कोई देश-काल है ही नहीं, जो भगवान्में न हो । सभी देश तथा काल भगवान्में हैं और सभी देशों तथा सभी कालोंमें भगवान् भरे हैं ।

इसीसे मैं भगवान्की संनिधिका नित्य अनुभव करता हूँ और इसीलिये मेरे सब दोष नष्ट होकर मुझमें शान्ति, सुख, दया, करुणा, निरभिमानता, विनम्रता, उदारता, धीरता, अहिंसा, वैराग्य, प्रेम, सद्व्यवहार, सबके प्रति सम्मान, सबके सुखकी भावना और सबके परम हितकी इच्छा आदि सद्गुण आ रहे हैं । मैं भगवान्में हूँ, इसीसे भगवान्के सारे दिव्य गुण मेरे नित्य साथी हो रहे हैं ।

मैं जब, जहाँ, जैसे भी रहता हूँ सदा भगवान्में ही रहता हूँ ।

शांकरवेदान्तकी व्यावहारिकता

(लेखक—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि, एम्. ए.)

पाश्चात्य विद्वान् हक्सलेका कथन है कि अपने पूर्वजोंका अनादरपूर्वक उपहास करना या आलोचना करना सरल है; परंतु उससे कहीं अधिक हितकर होगा, यदि हम इस बातका पता लगानेका यत्न करें कि वे लोग, जो वास्तवमें हम महानुभावोंसे कम विवेकशील नहीं थे, ऐसे तथ्योंपर किन कारणोंसे पहुँचे जो कि हमें निरर्थक-सरीखे प्रतीत होते हैं।

इस कथनकी सत्यता हमें कुछ अंशोंमें जगद्गुरु शङ्कराचार्यके सिद्धान्तोंके आलोचकोंमें मिलती है। यद्यपि शङ्कराचार्यकी विद्वत्तामें किसीको संदेह नहीं है, पर फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कई विद्वानोंको निरर्थक-से प्रतीत होते हैं; क्योंकि आलोचकोंके विचारमें शंकरके अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत् भ्रम है। जैसे हम रज्जुमें सर्पका अध्यास कर लेते हैं, उसी प्रकार वास्तविक ब्रह्ममें अवास्तविक जगत्का अध्यास कर लेते हैं। पर आलोचकोंके विचारमें यह अध्यास ही नहीं बनता, जो अद्वैतदर्शनका आधार है; अतः उसपर आधारित अद्वैतदर्शन स्वतः ही निरर्थक हो जाता है।

दूसरा कारण इस दर्शनके निरर्थकत्वका वे यह देते हैं कि शंकरके सिद्धान्तोंमें व्यवहारका अभाव है; क्योंकि शंकरके अनुसार यह जगत् भ्रममात्र है, अतः भ्रममय जगत्में व्यवहार असम्भव है। पर ये दोनों आक्षेप आधारहीन हैं। यहाँ इन आक्षेपोंके खण्डनसे पूर्व यह आवश्यक है कि इन आक्षेपोंके आधार समझ लिये जायँ। अध्यासके खण्डन करनेवालोंका यह मत है कि शंकरके अनुसार जगत् अवास्तविक है, अतः अवास्तविक जगत्का वास्तविक ब्रह्ममें अध्यास असम्भव है; क्योंकि अध्यासका लक्षण शंकरने 'अतद्में तद्बुद्धि' किया है, जो कि असम्भव है; क्योंकि शंकरके अनुसार ब्रह्म ही एक वस्तु है—अन्य कुछ नहीं, अतः यहाँ 'अतद्में तद्बुद्धि' का अवकाश ही नहीं है। सीप और चाँदीमें अध्यास बन जाता है; क्योंकि ये दोनों (सीप और चाँदी) पृथक्-पृथक् वस्तु हैं और दोनों ही वास्तविक हैं। पर यहाँ एक (जगत्) के अवास्तविक होनेके कारण अध्यास नहीं बन सकता और यदि दोनों (ब्रह्म और जगत्) को वास्तविक मान लें तो अद्वैत मतकी हानि और द्वैत मतकी पुष्टि होती है, अतः अध्यास असम्भव है'[1]।

तथा इसी जगत्की अवास्तविकताका आधार लेकर अन्य विद्वानोंने भी इसपर अव्यावहारिकताका आरोप लगाया है[2]।

पर शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्रोंपर शारीरक भाष्यके अवलोकन करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि ये आरोप आधारहीन हैं; क्योंकि शंकरके सिद्धान्तोंका खण्डन करते समय विद्वान् शंकरद्वारा प्रतिपादित तीन सत्ताओंकी अवहेलना कर जाते हैं। शंकराचार्यने (१) पारमार्थिक सत्ता, (२) व्यावहारिक सत्ता, (३) प्रातिभासिक सत्ता—इन तीन सत्ताओंके स्तम्भोंपर अपने सिद्धान्तोंके महलको खड़ा किया है, पर जब विद्वान् इन तीन सत्ताओंकी अवहेलना कर जाते हैं, तब शंकरके महलका ध्वंसावशेष या निरर्थकरूपमें (विद्वानोंको) दिखायी पड़ना सामान्य है। शंकर अपने भाष्यमें इन सत्ताओंकी पुष्टि करते हैं; 'अध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकाः वैदिकाश्च प्रवृत्ताः'[3] इस कथनसे व्यावहारिक सत्ताकी पुष्टि करते हैं, तथा 'परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति सर्वे वेदान्ताः'[4], इस वचनसे पारमार्थिक सत्ताका परिचय देते हैं, और स्थल-स्थलपर सीप और चाँदीके उदाहरणोंसे प्रातिभासिक सत्ताका प्रतिपादन करते हैं। इन अवस्थाओंमें शंकर जगत्की स्थिति भिन्न-भिन्न रूपमें मानते हैं, पर इन तीनों ही अवस्थाओंमें कहींपर भी जगत्को अव्यावहारिक बताया हो, ऐसा शांकर-भाष्यसे ज्ञात नहीं होता। शंकरद्वारा प्रतिपादित जगत्के अवास्तविकताकी समस्या न केवल भारतीयोंके ही समक्ष, अपितु पाश्चात्त्य विद्वानोंके समक्ष भी इसी रूपमें आयी, पर उन्होंने इसका विवेचन कर बड़े सुन्दर ढंगसे इस समस्याका हल निकाला। यद्यपि शंकराचार्यने पारमार्थिक सत्तापर पहुँचकर जगत्की अवास्तविकता मानी, पर व्यावहारिक सत्तापर उन्होंने जगत्को भ्रममात्र या अवास्तविक नहीं कहा, अपितु व्यवहारार्थ जगत्की वास्तविक सत्ता मानी। प्रो० मेक्समूलर लिखते हैं[5]। 'यद्यपि

---

१. देखो, वेदान्तदर्शन-ब्रह्ममुनिभाष्य, भूमिका। २. गङ्गाप्रसाद उपाध्यायकृत शांकरभाष्यालोचन। ३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-उपोद्घात। ४. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।१।१४, ५. Six Systems of Indian Philosophy. Page 154.

शंकर कहते हैं कि सारा जगत् अविद्याका परिणाम है, पर फिर भी व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये संसारको वास्तविक मानते हैं और व्यवहारके लिये कर्त्ता (विषयी) और कर्म (विषय) को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं" । जब शंकर कर्त्ता और कर्म या विषयी और विषयको भिन्न-भिन्न मानते हैं, तब फिर जगत्की वास्तविकतामें कोई संदेह ही नहीं रह जाता; क्योंकि बिना जगत्को वास्तविक माने कर्त्ता और कर्मके भिन्नत्वका व्यवहार असम्भव है । "यह सत्य है कि वेदान्तमें प्राकृतिक (Material) और वास्तविक (Real) का अर्थ संदिग्ध है, कुछ विद्वानोंके मतमें ब्रह्मके सिवा यह सारा जगत् जो अविद्याका परिणाम है, अवास्तविक है । पर यह सिद्धान्त कुछ अंशतक सत्य है; क्योंकि इसके साथ ही शंकर व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये इस जगत्को वास्तविक भी मानते हैं[२] । क्योंकि यदि सर्वांशमें शंकरको जगत्की अवास्तविकता मान्य होती तो वे अपने भाष्यमें बौद्ध-दर्शनके शून्यवाद (माध्यमिक) तथा विज्ञानवाद (योगाचार) का खण्डन न करते । माध्यमिक बौद्धके अनुसार यह सारा जगत् शून्य (अवकाश) है, इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार योगाचार (विज्ञानवादी) का मत है कि यह संसार और पदार्थ अवास्तविक हैं । ये जो पदार्थ दिखायी पड़ते हैं, उन सबमें विज्ञान भासता है । अतः सब विज्ञान-ही-विज्ञान है, अन्य कुछ नहीं, यह सब जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है । पर इन सिद्धान्तोंका खण्डन शंकरने अपने भाष्यमें किया है[२] कि यह जगत् स्वप्नवत् नहीं है; क्योंकि जागनेके बाद तो स्वप्नकी अवास्तविकता स्पष्ट हो जाती है, पर यह संसार सोनेसे पूर्व भी उसी प्रकार था और सोकर जागनेके बाद भी उसी प्रकार दिखायी देता है । अथच, स्वप्नके पदार्थोंका निर्माण मन स्वयं करता है, पर इस सांसारिक पदार्थका नहीं, अतः जगत् वास्तविक है, स्वप्नवत् मिथ्या नहीं । इस प्रकार शंकर न केवल जगत्की वास्तविकता स्वीकार करते हैं, अपितु बौद्धोंके शून्यवाद और विज्ञानवादके विरुद्ध अकाट्य तर्क उपस्थित कर बौद्धोंद्वारा मान्य जगत्की अवास्तविकताके सिद्धान्तका खण्डन करते हैं[३] । शंकर अपने ग्रन्थका आरम्भ भी जगत्की वास्तविकता तथा विषय और विषयीके भिन्नत्वके प्रतिपादनसे करते हैं[४] "कि 'अहं' प्रत्यय विषयी (कर्त्ता) के धर्मोंमें तथा 'इदं' प्रत्यय विषयी (कर्म) के धर्मोंमें प्रकाश और अँधेरेके समान विरोध है, अतः इन दोनोंका एक दूसरेमें अन्तर्भाव अशक्य है । इस कारण इन दोनोंकी वास्तविकता मानना अनिवार्य है । और भी, शंकरके अनुसार यह जगत् अविद्याका कार्य है और अविद्या वास्तविक है, अतः अविद्याके कार्य (जगत्) की वास्तविकता भी आवश्यक है; क्योंकि वैशेषिक सूत्रकार कणादके अनुसार कारणके गुण कार्यमें अवश्य आते हैं[१], अतः यदि अविद्या वास्तविक है तो उसके कार्य (जगत्) की वास्तविकता भी असंदिग्ध है । इसके अतिरिक्त शंकरद्वारा प्रतिपादित सत्यासत्यका विवेचन तथा संसारद्वारा मोक्षप्राप्ति आदि ये सब सिद्ध करते हैं कि शंकरके अनुसार भी जगत् वास्तविक है, भ्रममात्र नहीं[२] 'ब्रह्म इस संसारमें है, पर स्वयं संसार नहीं[३] । क्योंकि यदि संसार भ्रममात्र होता तो भक्ति, ज्ञान और संन्यासके द्वारा भी (हम) उच्च जीवन प्राप्त नहीं कर सकते थे[४] । और शंकर स्वयं कहते हैं कि यदि यह संसार भ्रममात्र या अवास्तविक होता तो ब्रह्मकी सत्ता भी संदिग्ध हो जाती[५] । क्योंकि शंकर भी जगत्के आधारपर ही ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं, अपने भाष्यमें स्पष्ट लिखते हैं[६] कि—'नाम, रूप तथा कर्त्ता, भोक्तासे संयुक्त तथा मनके द्वारा भी जिसकी रचनाका चिन्तन नहीं किया जा सकता, ऐसे इस जगत्का जन्म, स्थिति और संहार जिस सर्वशक्तिमान्से होता है, वह ब्रह्म है ।' इस प्रकार शंकर स्थल-स्थलपर जगत्की वास्तविकता सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि इसी जगत्के आश्रयसे सारे प्रमाण और प्रमेय आदिका व्यवहार चलता है । इस प्रकार जगत्की वास्तविकता सिद्ध हो जानेपर अध्यासके सिद्ध न होनेका आक्षेप स्वयमेव समाप्त हो जाता है (क्योंकि जगत्को अवास्तविक मानकर ही अध्यास सिद्ध न होनेका आक्षेप किया था) । पर अब यहाँ एक शंका पैदा होती है कि यदि शंकरके अनुसार ब्रह्म और जगत् दोनों ही वास्तविक हैं तो अद्वैतमतकी हानि स्पष्ट ही है, जैसा कि कुछ विद्वानोंका मत भी है[७] । इसका उत्तर शंकर देते हैं कि पारमार्थिक

---

१. MaxMullar—Six Systems of Indian Philosophy. Page 160 । २. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' २ । २ । २९ । ३. MaxMullar-Six Systems of Indian Philosophy Page-160, ४. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, उपोद्घात ।

१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः—वैशेषिकदर्शन । 2. Radhakrishnan–Indian Philosophy, Part II Page. 583. ३. Radha. Indian Philosophy. Part II Page 583. ४. Radha. Indian Philosophy Part II 583. ५. यदि ह्यसत्त्वमेव जगत् स्यात्तर्हि ब्रह्मणोऽपि ह्यसत्त्वप्रसङ्गः, शांकरभाष्य । ६. जन्माद्यस्य यतः १ । १ । २ । ७. वेदान्तदर्शन ब्रह्ममुनिकृत भाष्य-भूमिका ।

सत्तापर आकर तत्त्वज्ञानी सब स्थानपर ब्रह्म ही ब्रह्म देखता है। यद्यपि व्यावहारिक सत्तापर रहकर केवल ब्रह्मको ही वास्तविक रूपमें तथा जगत्‌को अवास्तविक समझना नितान्त असम्भव है, पर वही पुरुष (जो व्यावहारिक सत्तापर ब्रह्म और जगत् दोनोंको वास्तविक मानता है) नित्यानित्यवस्तुविवेक, इस लोक तथा परलोकमें फलकी कामनाका त्याग, शमदमादि षट्-सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व— इन साधन चतुष्टयद्वारा जब पारमार्थिक सत्तापर पहुँचता है, तब उसे केवल ब्रह्म ही वास्तविक तथा जगत् अवास्तविक प्रतीत होता है[1]। पर यहाँ वास्तविक और अवास्तविक शब्द संदिग्ध है, शंकरके अनुसार वास्तविकका तात्पर्य कुछ भिन्न है, इसका विवेचन आगे करेंगे।

शंकराचार्यके अनुसार सारे संसारका यह व्यवहार ब्रह्मज्ञानके पूर्व ही होता है। जबतक मनुष्यको आत्मैकत्वका तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक मनुष्य अविद्यासे अभिभूत होकर सारे सांसारिक विकारोंको 'यह वस्तु मेरी है' कहकर ममत्वसे अपनाता है। अतः ब्रह्मज्ञानसे पूर्वकी स्थितियोंमें ये सारे लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य और उचित हैं, पर पारमार्थिक सत्तामें सारे व्यवहारोंका अभाव हो जाता है। यहाँपर व्यवहारके अभावसे शंकरका तात्पर्य आसक्तिका न होना है; क्योंकि यदि किसी मनुष्यकी किसी पदार्थमें आसक्ति नहीं है तो उस पदार्थके विद्यमान रहनेसे उसे न कोई लाभ है, न विद्यमान रहनेसे न उसे कोई हानि है, अतः उस पुरुषके लिये उस पदार्थकी विद्यमानता और अविद्यमानता एक समान है। अतः यहाँ अभावसे शंकरका तात्पर्य अनासक्ति है। अन्यथा, यदि व्यवहाराभावसे शंकरका तात्पर्य व्यवहारका नितान्त अभाव होता तो वे जीवन्मुक्तके सिद्धान्तका प्रतिपादन अपने मतमें न करते। शंकरके अनुसार भी कोई भी मनुष्य बिना कर्मके एक क्षण भी नहीं रह सकता है[2]। तो जीवन्मुक्त बिना व्यवहार (कर्म) के कैसे रह सकता है। इसके विपरीत जीवन्मुक्तके लिये कहा गया है कि वह करता हुआ भी नहीं करता, देखता हुआ भी नहीं देखता[3] और शंकर भी स्वयं कहते हैं कि 'देखता, सुनता, सूँघता, सोता और चलता हुआ भी इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें बरत रही हैं, मेरा कुछ नहीं है, इस प्रकार जो कर्ममें अकर्म देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है'[1]। इससे, स्पष्ट है कि शंकरका व्यवहाराभावसे तात्पर्य अनासक्तिसे है। इस प्रकार मनुष्य व्यावहारिक सत्तापर जगत्‌को वास्तविक मानकर आसक्तभावसे कर्म करता है और पारमार्थिक सत्तामें अनासक्त भावसे। इसके अतिरिक्त भी शंकर जगत्‌की वास्तविकता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि— जैसे ब्रह्मकी सत्तामें तीनों कालोंमें भी व्यभिचार (दोष) नहीं आता, उसी प्रकार जगत्‌की सत्तामें भी तीनों कालोंमें व्यभिचार (दोष) नहीं आता है[2]। अतः व्यावहारिक सत्तामें यह जगत् वास्तविक है और व्यवहार भी चलता है तथा पारमार्थिक सत्ता [जीवन्मुक्तावस्था] में जगत् अवास्तविक है, पर व्यवहार चलता है तथा पूर्ण मोक्षावस्थामें यह जगत् भी अवास्तविक प्रतीत होता है और व्यवहार भी समाप्त हो जाता है। मोक्षावस्थामें व्यवहारके आधारभूत द्रष्टा और दृश्यका भेद ही नहीं रहता; 'क्योंकि जब सब आत्मा-ही-आत्मा हो जाता है, तब कौन द्रष्टा है और कौन दृश्य'[3]। और 'उस अवस्थामें पुरुषको इस संसारमें कुछ भी वास्तविकता दृष्टिगोचर नहीं होती, केवल ब्रह्म ही वास्तविक प्रतीत होता है और जगत् अवास्तविक। उसे इस संसारमें ग्रहण करने योग्य या उपभोग करने योग्य कोई वस्तु दिखायी नहीं देती तथा ज्ञानके योग्य भी कोई पदार्थ दिखायी नहीं देता'[4]। इस प्रकार उसे (मनुष्यको) इस संसारमें आसक्ति नहीं रहती और अवास्तविक प्रतीत होने लगता है। यहाँपर वास्तविक और अवास्तविकका अर्थ कुछ संदिग्ध है। कुछ विद्वानोंके मतमें अवास्तविकका अर्थ आधारहीन है—जैसे आकाशका फूल। पर शंकराचार्यका तात्पर्य यह नहीं है, अपितु अवास्तविकसे उनका तात्पर्य अनित्यका है और वास्तविकसे नित्यका। अतः शंकरके अनुसार अवास्तविक जगत्‌का अर्थ 'अनित्य जगत्' है, 'भ्रममय जगत्' नहीं। यह सारा संसार ज्ञेय और दृश्य है, जो द्रष्टासे सर्वथा विपरीत है। अतः यह संसार दृश्य होनेके कारण अनित्य है (यद्‌दृश्यं तदनित्यम्—शांकर भाष्य]। और यह जगत् सान्त भी है इसलिये भी अनित्य है। नित्यकी परिभाषा करते हुए शंकर लिखते हैं कि 'जो तीनों कालोंमें रहे वह नित्य है [त्रैकालिकाबाध्यत्वम्], पर यह दृश्य जगत् भविष्यमें नष्ट हो जानेवाला है, अतः अनित्य

१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य—१।१।१। २. गीता-शांकरभाष्य ३।५। ३. सदानन्दकृत वेदान्तसार।

१. गीता-शांकरभाष्य ५।८। २. यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति, इत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति। ३. यदा सर्वमात्मैवाभूत्तर्हि केन कं पश्येत् -छान्दोग्योपनिषद्। ४. माण्डूक्योपनिषद्।

है। इसीको श्रीराधाकृष्णन् और स्पष्ट करते हैं कि—'जो वास्तविक पदार्थ हैं, वे आज रहें और कल नष्ट हो जायँ, ऐसा नहीं हो सकता, पर सांसारिक पदार्थ सदा नहीं रहते; क्योंकि ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति हो जाती है, अतः संसार अनित्य या अवास्तविक है'[1]—इस बातकी पुष्टि उपनिषद् भी करती है, 'नचिकेता सारे सांसारिक पदार्थोंको अवास्तविक (नाशवान्) बताकर गाय, घोड़े आदि सांसारिक पदार्थोंको लेनेसे मना कर देता है और केवल आत्मज्ञान चाहता है'[2]। इसी प्रकार यहाँ भी अवास्तविक जगत्से शंकराचार्यका तात्पर्य अनित्य जगत्से भ्रममय जगत्से नहीं।

इन सबके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शांकर-वेदान्तमें व्यावहारिकता बहुत अंशोंमें विद्यमान है, अतः हम उसे अव्यावहारिक बताकर निरर्थक नहीं कह सकते। यह जगत् पारमार्थिक अवस्थामें भी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता, अपितु अनित्य होनेके कारण अवास्तविक प्रतीत होता है, पर यह स्थिति भी तत्त्वज्ञानियोंकी है, सर्वसाधारणकी नहीं।

इन सबसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो मैक्समूलरके शब्दोंमें स्पष्ट है—

इस प्रकार परमार्थावस्थामें पहुँचकर तथा जगत्को अवास्तविक बताकर तथा आत्माको संसार और शरीरसे ऊँचा उठाकर भी शांकरदर्शन उन मनुष्योंके जीवनको कोई हानि नहीं पहुँचाता, जिन्हें अभी इस संसारमें रहकर अपने कर्तव्य पूरे करने हैं, इसके विपरीत यह बताता है कि उच्च ज्ञानकी प्राप्तिके लिये नैतिकता, गुण, विश्वास और शुभताकी आवश्यकता है, जो कि आत्माको वापिस इसके घर (ब्रह्म) तक पहुँचाते हैं[3]।

इससे स्पष्ट है कि शांकर-वेदान्त व्यावहारिक है, अव्यावहारिक नहीं, अतः उसको अव्यावहारिक बताना अनुचित और निराधार है[4]।

परवरदिगारसे आरज़ू

नहीं नापाक नालायक खलकमें मुझ-सा कोई और,
भरा लाखों गुनाहोंसे दिखाऊँ मुँह तुझे कैसे ?
इबादत की नहीं तेरी भूलकर भी कभी मैंने,
सताया तेरे बंदोंको सामने आऊँ मैं कैसे ?
मुहब्बत ज़ालिमोंसे की जोड़ इखलास[1] पुर दिलसे।
किया इख्तलाफ़[2] नेकोंसे, बताऊँ क्या तुझे कैसे ?
डराया बेगुनाहोंको औ, लूटा बेबसोंको खूब,
मिटाई आब आदिलकी, करूँ अब क्या कहो कैसे ?
छोड़ खिदमत खुदा तेरी, करी अख्तियार बेशर्मी,
बेवफा बन करी चुगली, बचाऊँ अब कहो कैसे ?
मिटा इन्सानियत सारी, बना खूँखार बेहद मैं,
जान ली बेजुबानोंकी, डरूँ अब मैं नहीं कैसे ?
बितायी आशनाईमें उम्र, हो बेहया पूरा,
माँगूँ अब किस तरह माफ़ी, सजासे अब बचूँ कैसे ?
रहमदिल ऐ मेरे मालिक ! करो अब परवरिश मेरी,
छोड़ परवरके दरको मैं जाऊँ अब ग़ैर पै कैसे ?

१. मेल-मिलाप। २. विरोध।

---

१. RadhaKrishnan—Indian Philosophy Part II-Page 562, ज्ञानैकनिवृत्त्यत्वम्, शांकरभाष्य।
२. कठोपनिषद् प्रथम वल्ली। ३. MaxMullar—Six Systems of Indian Philosophy. Page 183.
४. Max-Mullar—Six Systems of Indian Philosophy Page. 183.

मधुर

(प्रेममूलक त्याग या गोपीभाव)

त्यागकी बड़ी महत्ता है, त्यागसे ही जीवनका यथार्थ विकास होता है, त्यागसे ही शान्ति प्राप्त होती है। परंतु त्यागका ठीक-ठीक स्वरूप समझना आवश्यक है। 'भोगमूलक त्याग' वास्तविक त्याग नहीं होता, 'प्रेममूलक त्याग' ही त्याग होता है। प्रेममूलक त्यागमें निम्नलिखित बातें होती हैं, जो भोगमूलक त्यागमें नहीं होतीं—

(१) त्यागके अभिमानका अभाव।

(२) त्याग करके किसीपर अहसान न करना, त्यागके द्वारा किसीको कृतज्ञ बनानेका भाव न होना।

(३) त्यागमें कठिनताका बोध न होना।

(४) त्यागमें सुखका अनुभव।

(५) त्यागमें प्रदर्शनका अभाव।

(६) त्यागका कोई बदला या फल न चाहना।

(७) त्याग किये विना सहज ही रहा न जाना। त्यागमें महत्त्व-बोधका अभाव।

वात्सल्य-स्नेहमयी माता अपनी प्रिय संतानके लिये त्याग करती है। रातको छोटे शिशुने बिछौनेमें मूत दिया, बिछौना गीला हो गया, जाड़ेके दिन हैं, माँको पता लगते ही वह स्वयं गीलेमें सो जाती है, बच्चेको सूखेमें सुला देती है। ऐसा करके न तो माँ कोई अभिमान करती है, न बच्चेपर अहसान करती है, न उसे कठिनताका बोध होता है, ऐसा करनेमें उसे सहज सुख मिलता है, वह इसे किसीको दिखानेके लिये नहीं करती, न कोई बदला या मान-बड़ाई चाहती है, वरं स्नेहवश उससे ऐसा किये विना रहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार प्रेम-प्रतिमा प्रेयसी अपने प्राणप्रियतमके लिये त्याग करती है, उसमें कहीं भी कोई उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते। विशुद्ध अनुरागसे ही उसे त्यागकी सहज प्रेरणा मिलती है और विशुद्ध अनुराग या प्रेमकी प्राप्ति या वृद्धि ही उसका फल भी होता है।

इसके विपरीत जिस त्यागमें—'मैंने त्याग किया' यह अभिमान होता है, 'मैंने उसके लिये त्याग किया है, उसे मेरा अहसान मानना चाहिये—कृतज्ञ ह चाहिये'—यह भाव होता है, जिस त्यागमें बहु कठिनाईका अनुभव होता है, जो त्याग करना पड़ता है, जिसमें सुखकी अनुभूति नहीं होती, जो त्याग दिखावेके लिये होता है, जिसका लोक-परलोकमें विशेष फल, बदला या मान-बड़ाईकी चाह होती है और जो त्याग किसी कारणसे होता है, किसी महत्त्वबुद्धिसे होत है—ऐसा नहीं होता, जिसके किये विना चैन ही पड़े। ये बातें जिस त्यागमें हों, वह त्याग न्यूनाधि भावसे भोगमूलक ही होता है। भोगमूलक त्याग भी बुर नहीं है, परंतु वह भावके तारतम्यके अनुसार बहुत ही निम्न श्रेणीका होता है, उसे वास्तविक त्याग नहीं कहा जा सकता। ऐसा त्याग भोगप्राप्तिमें हेतु होता है, उसमें पद-पदपर भोगका अनुसंधान बना रहता है और भोग न मिलनेपर दुःखकी अनुभूति होती है। ऐसे त्यागपर त्यागीको पश्चात्ताप भी हो सकता है। यह एक प्रकारका व्यापार होता है। इसमें विशुद्ध प्रेमका अभाव होता है।

इसके विपरीत यथार्थ त्याग विशुद्ध प्रेमकी विशेष वृद्धि करता है और विशुद्ध प्रेमसे त्याग भी विशेष रूपसे होता है और जहाँ विशुद्ध प्रेमका उदय हो जाता है, वहाँ त्याग ही जीवनका स्वरूप बन जाता है। 'स्व' की सर्वथा विस्मृति होकर केवल प्रियतम ही रह जाते हैं, उनका सुख ही अपना सुख बन जाता है। फिर वहाँ यदि भोग

भी कहीं रहते हैं तो वे त्यागमूलक ही रहते हैं, यही 'गोपीभाव' है। गोपी किसी स्त्रीका नाम नहीं है, जिसमें सर्वथा त्यागपूर्ण प्रेम है; जिसका प्रत्येक विचार, जिसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रिया सहज ही अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके लिये होती है, वही गोपी है। गोपीका संसार, गोपीके संसारकी क्रिया सभी एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णके लिये हैं। उसका खाना-पहनना, साज-शृंगार करना, सोना-जागना, कार्य करना या कार्य न करना, जीना-मरना—सभी प्रियतम श्रीकृष्णके मनके अनुसार श्रीकृष्णके सुखके लिये ही होता है। उसके त्याग और भोग—दोनोंमें ही भगवत्प्रेम भरा है। मीराँने कहा—

कहो तो मोतियन माँग भरावाँ,
कहो तो मूँड मुँड़ावाँ।
कहो तो कसूमल चुनड़ि रँगावा,
भगवा भेस बणावाँ॥

जिसमें प्रियतमको सुख, जो प्रियतमको रुचिकारक, वैसी प्रियतमकी इच्छा—वही प्रेमीका स्वभाव। उसे न किसी त्यागके बाहरी रूपसे सम्बन्ध है, न भोगसे। उसका सम्बन्ध है केवल प्रियतमसे। उसका त्याग भी विशुद्ध प्रेममूलक और उसका भोग भी विशुद्ध प्रेममूलक—अतएव त्याग और भोग दोनों ही परम विशुद्ध त्यागमय हैं।

एक उच्च भावमयी नवीन गोपी साधिकाने—'प्रेमका कैसा रूप होता है, विशुद्ध प्रेम-राज्यमें भोग-त्यागका कैसा भाव होता है, उन परम प्रेयसी गोपियोंके कैसे भाव-आचरण हैं,—'इसके सम्बन्धमें एक गोपीसे पूछा। तब उसे त्यागमय परमानुरागकी अधिकारिणी समझकर उस गोपीने कहा कि 'हमलोगोंको नित्यनिकुञ्जेश्वरी महाभाव-रूपा श्रीश्यामसुन्दरकी अन्तरात्मा श्रीराधिकाजीने जो स्वरूप बतलाया था, वह इस प्रकार है—

श्याम हमारे वस्त्राभूषण,
श्याम हमारे भोजन-पान।
श्याम हमारे घर, घरके सब,
श्याम हमारे ममता मान॥
श्याम हमारे भोग्य, सुभोक्ता,
श्याम हमारे कर्त्ता, कर्म।
श्याम हमारे तन-मन-धन सब,
श्याम हमारे केवल धर्म॥
श्याम हमारे त्याग, भोग सब,
श्याम हमारे श्वासोच्छ्वास।
श्याम हमारे स्व-पर सभी कुछ,
श्याम हमारे सब अभिलाष॥
श्याम हमारे परम गुप्त निधि,
श्याम हमारे प्रकट विभूति।
श्याम हमारे भूत, भविष्यत्,
वर्तमानकी वाञ्छित भूति॥
श्याम लोक, परलोक हमारे,
बन्धन, मोक्ष हमारे श्याम।
श्याम हमारे चरम परम गति,
श्याम हमारे चिन्मय धाम॥
श्याम-प्रीति-रुचि-सुख ही केवल
एक हमारा सहज सु-रूप।
श्याम-सुखार्थ सभी कुछ होता
रहता उनके मन अनुरूप॥
श्याम करावें पूर्ण त्याग, या
खूब करावें इन्द्रिय-भोग।
श्याम रखें सब भाँति स्वस्थ, या
दे दें चाहे कठिन कुरोग॥
श्याम कहें तो प्राण त्याग दें
सुखपूर्वक अति मन उत्साह।
श्याम कहें तो अमर रहें हम,
पूरी हो प्रियतमकी चाह॥
श्याम भले अपमान करावें,
करें, करावें या सम्मान।
श्याम सुखी हों जिससे, केवल
वही हमारा सच्चा मान॥
श्याम मिले नित रहें, एक
पल भी न हमें छोड़ें, रख राग।
श्याम कभी भी मिलें न हमसे,
जीवनमें निज भरें विराग॥

श्याम सुखी हों, जैसे ही,
है हमें उसीमें परमानन्द।
श्याम चित्त विपरीत न रहता,
मनमें कभी कहीं आनन्द॥
श्याम-सुखार्थ त्याग यदि होता
उसका रहता हमें न भान।
श्याम-प्रेमसे ही सब होता
सहज, सरल, सुखमय, गत-मान॥
श्याम-प्रीतिसे भरा हृदय तब
कौन करे कैसा अभिमान।
श्याम बन रहे जीवन ही तब
किसपर कौन करे अहसान।
श्याम-प्रेम-फल प्राप्त सर्वथा,
कौन परम फल अब अवशेष।
श्याम हेतु सब काम, त्यागका
कौन महत्त्व बचा अब शेष॥
श्याम हमारे हैं सब कुछ, हम
सदा श्यामकी सुख-साधन।
श्याम स्वयं हमसे करवाते
रहते निज-सुख-आराधन॥

'प्रियतम प्राणप्राण श्रीश्यामसुन्दर ही हमारे कपड़े-गहने हैं, वे ही हमारे भोजन-पान हैं। वे श्यामसुन्दर ही हमारे घर हैं, सब घरके हैं; श्यामसुन्दर ही हमारे ममता और मान हैं। श्यामसुन्दर हमारे भोग्य हैं। (जब स्वयं भोग्य बनकर सुखी होना चाहते हैं, तब हमें भोक्ता बना लेते हैं।) वे ही हमारे सुन्दर भोक्ता हैं। श्यामसुन्दर ही कर्त्ता हैं और वे ही हमारे कर्म हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे तन-मन-धन सब कुछ हैं और केवल श्यामसुन्दर ही हमारे धर्म हैं। (हमारे समस्त धर्म एकमात्र श्यामसुन्दरमें ही आकर समा गये हैं।) श्यामसुन्दर ही हमारे सब त्याग हैं और वे ही हमारे समस्त भोग हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे श्वास-प्रश्वास—प्राण हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे अपने हैं और वे ही पराये हैं, सब कुछ वे ही हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे मनके सारे मनोरथ हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे सबसे अधिक सबसे श्रेष्ठ छिपे खजाने हैं और श्यामसुन्दर ही हमारे प्रकट वैभव हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानकी वाञ्छित विभूति (ऐश्वर्य) हैं। श्यामसुन्दर ही हमारा यह लोक और परलोक हैं और श्यामसुन्दर ही हमारे बन्धन हैं तथा वे ही हमारे मोक्ष हैं। श्यामसुन्दर ही हमारी अन्तिम और परम गति हैं एवं श्यामसुन्दर ही हमारे सच्चिदानन्दमय धाम हैं।

श्यामसुन्दरकी प्रीति, उनकी रुचि और उनका[illegible] सुख ही हमारा एकमात्र सहज सुन्दर रूप है[illegible] श्यामसुन्दरके सुखके लिये हमलोगोंके द्वारा उनके मनके अनुकूल सभी कुछ होता रहता है। श्यामसुन्दर चाहे हमसे पूर्ण त्याग करावें या खूब इन्द्रिय-भोग करावें; श्यामसुन्दर हमें सब प्रकारसे स्वस्थ रक्खें या चाहें तो हमें कठिन कुरोग प्रदान कर दें। श्यामसुन्दर कहें तो मनमें अत्यन्त उत्साह भरकर प्राण त्याग दें अथवा श्यामसुन्दर कहें तो हम अमर रहें। उन प्रियतमकी चाह[illegible] पूरी हो।

श्यामसुन्दर चाहे हमारा अपमान करावें अथवा [illegible] सम्मान करें-करावें। बस, श्यामसुन्दर जिससे सुखी हों, केवल वही हमारा सच्चा मान है। श्यामसुन्दर सदा-सर्वदा हमसे मिले रहें, एक पलके लिये भी हमारा त्याग न करें, हममें आसक्त रहें, अथवा वे श्यामसुन्दर हमसे कभी भी न मिलें, अपने जीवनको वैराग्यसे भर लें। बस, श्यामसुन्दर जैसे सुखी हों, उसीमें हमें परम आनन्द है। श्यामसुन्दरके चित्त-से विपरीत हमारे मनमें कहीं भी किसी भी आनन्दको स्थान नहीं है। श्यामसुन्दरके सुखके लिये हमारे जीवनमें कभी यदि कोई त्याग होता हो तो उसका हमें कभी पता ही नहीं रहता, जो कुछ त्याग होता है,—वह श्यामसुन्दरके प्रेमसे अपने आप ही, बिना किसी भी कठिनाईके, सरलताके साथ, सुखमय तथा अभिमानरहित होता है। जब श्यामसुन्दरकी प्रीतिसे हृदय पूर्ण है, तब

कौन कैसा अभिमान करे ? जब श्यामसुन्दर हमारे जीवन ही बन रहे हैं, तब किसपर कौन अहसान करे ? जब श्यामसुन्दरका प्रेमरूप फल सर्वथा प्राप्त है, तब फिर कौन-सा परम फल अवशेष रह गया ? जब श्यामसुन्दर-के लिये सब काम सहज ही होते हैं, तब त्यागका कौन-सा महत्त्व शेष बच रहा है ? श्यामसुन्दर हमारे सब कुछ हैं और हम सदा केवल श्यामसुन्दरके सुखकी साधन हैं। वे श्यामसुन्दर स्वयं ही हमारे द्वारा सदा-सर्वदा अपनी सुखाराधना करवाते रहते हैं।'

यह है गोपीका स्वरूप। यह भाव जहाँ जिसमें जितना प्रस्फुटित है, उसमें वहाँ उतना ही गोपीभाव-का विकास है।

मानस-सिद्ध-मन्त्र

['कल्याण' में कुछ वर्षों पहले 'मानस-सिद्ध-मन्त्र' नामक 'एक रामायणप्रेमी' सज्जनका लेख छपा था। उससे बहुत लोगोंने लाभ उठाया। बहुत दिनोंसे उसे पुनः छापनेके लिये पत्र आ रहे हैं। अतएव कुछ घटा-बढ़ाकर नीचे प्रकाशित किया जा रहा है। —सम्पादक]

मानस चौपाई सिद्ध मन्त्रका विधान यह है कि पहले रातको दस बजेके बाद अष्टाङ्ग हवनके द्वारा मन्त्र सिद्ध करना चाहिये। फिर जिस कार्यके लिये मन्त्र-जपकी आवश्यकता हो, उसके लिये नित्य जप करना चाहिये। काशीमें भगवान् शङ्करजीने मानसकी चौपाइयोंको मन्त्र-शक्ति प्रदान की है—इसलिये काशी-की ओर मुख करके उन्हें साक्षी बनाकर श्रद्धासे जप करना चाहिये।

रक्षा-रेखा

मन्त्र 'सिद्ध' करनेके लिये या किसी संकटपूर्ण जगहपर रात व्यतीत करनेके लिये अपने चारों ओर रक्षाकी रेखा खींच लेनी चाहिये। लक्ष्मणजीने सीताजी-की कुटीके आस-पास जो रक्षा-रेखा खींची थी, उसी लक्ष्यपर यह रक्षामन्त्र बनाया गया है। इसे एक सौ आठ आहुतिद्वारा सिद्ध कर लेना चाहिये—

मामभिरक्षय रघुकुलनायक।
धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥

विविध मन्त्र

(१) विपत्ति-नाशके लिये

राजिव नयन धरें धनु सायक।
भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

(२) संकट-नाशके लिये

जौं प्रभु दीन दयालु कहावा।
आरति हरन बेद जसु गावा॥
जपहिं नामु जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
दीन दयाल बिरिदु संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥

(३) कठिन क्लेश-नाशके लिये

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू।
महामोह निसि दलन दिनेसू॥

(४) विघ्न-विनाशके लिये

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही।
राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥

(५) खेद-नाशके लिये

जब तें रामु ब्याहि घर आए।
नित नव मंगल मोद बधाए॥

(६) महामारी, हैजा और मरीका प्रभाव न पड़े इसके लिये

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥

(७) विविध रोगों तथा उपद्रवोंकी शान्तिके लिये

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

(८) मस्तिष्ककी पीड़ा दूर करनेके लिये

हनूमान अंगद रन गाजे।
हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥

(९) विष-नाशके लिये

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

(१०) अकाल-मृत्यु-निवारणके लिये

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

(११) भूतको भगानेके लिये

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदयँ आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

(१२) नजर झाड़नेके लिये

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी।
निरखहिं छबि जननीं तृन तोरी॥

(१३) खोयी हुई वस्तु पुनः प्राप्त करनेके लिये

गई बहोर गरीब नेवाजू।
सरल सबल साहिब रघुराजू॥

(१४) जीविका-प्राप्तिके लिये

बिस्व भरन पोषन कर जोई।
ताकर नाम भरत अस होई॥

(१५) दरिद्रता दूर करनेके लिये

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।
कामद घन दारिद दबारि के॥

(१६) लक्ष्मी-प्राप्तिके लिये

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं।
जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ।
धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

(१७) पुत्र-प्राप्तिके लिये

प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुख सनेह बस माता बालचरित कर गान॥

(१८) सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं।
सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥

(१९) ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करनेके लिये

साधक नाम जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

(२०) सब सुख-प्राप्तिके लिये

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।
लहहिं भगति गति संपति नई॥

(२१) मनोरथ-सिद्धिके लिये

भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

(२२) कुशल-क्षेमके लिये

भुवन चारिदस भरा उछाहू।
जनकसुता रघुबीर बिआहू॥

(२३) मुकदमा जीतनेके लिये

पवन तनय बल पवन समाना।
बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥

(२४) शत्रुके सामने जाना हो उस समयके लिये

कर सारंग साजि कटि भाथा।
अरि दल दलन चले रघुनाथा॥

(२५) शत्रुको मित्र बनानेके लिये

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

(२६) शत्रुता-नाशके लिये

बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई॥

(२७) शास्त्रार्थमें विजय पानेके लिये

तेहिं अवसर सुनि सिव धनु भंगा।
आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥

(२८) विवाहके लिये

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतकीरति उरमिला कुँअरि लईं हँकारि कै॥

(२९) यात्राकी सफलताके लिये

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥

(३०) परीक्षामें पास होनेके लिये

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी ।
कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती ।
जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती ॥

(३१) आकर्षणके लिये

जेहिं कें जेहि पर सत्य सनेहू ।
सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥

(३२) स्नानसे पुण्य-लाभके लिये

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग ॥

(३३) निन्दाकी निवृत्तिके लिये

राम कृपाँ अवरेब सुधारी ।
बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी ॥

(३४) विद्या-प्राप्तिके लिये

गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई ।
अलप काल बिद्या सब आई ॥

(३५) उत्सव होनेके लिये

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु ॥

(३६) यज्ञोपवीत धारण करके उसे सुरक्षित रखनेके लिये—

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ॥

(३७) प्रेम बढ़ानेके लिये—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती ।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

(३८) कातरकी रक्षाके लिये—

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ ।
एहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥

(३९) भगवत्स्मरण करते हुए आरामसे मरनेके लिये—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ तें गिरत न जानइ नाग ॥

(४०) विचार शुद्ध करनेके लिये—

ताके जुग पद कमल मनावउँ ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ ॥

(४१) संशय-निवृत्तिके लिये—

राम कथा सुंदर करतारी ।
संसय बिहग उड़ावनिहारी ॥

(४२) ईश्वरसे अपराध क्षमा करानेके लिये—

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता ।
छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता ॥

(४३) विरक्तिके लिये—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं ।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भव रस बिरति ॥

(४४) ज्ञान-प्राप्तिके लिये—

छिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित अति अधम सरीरा ॥

(४५) भक्तिकी प्राप्तिके लिये—

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम ॥

(४६) श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिये

सुमिरि पवनसुत पावन नामू ।
अपने बस करि राखे रामू ॥

(४७) मोक्ष-प्राप्तिके लिये

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा ।
काल सर्प जनु चले सपच्छा ॥

(४८) श्रीसीतारामजीके दर्शनके लिये

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

(४९) श्रीजानकीजीके दर्शनके लिये

जनकसुता जगजननि जानकी ।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥

(५०) श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेके लिये

केहरि कटि पट पीतधर सुषमा सील निधान ।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान ॥

(५१) सहज स्वरूप-दर्शनके लिये

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना ।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥

अष्टाङ्ग हवनकी सामग्री

(१) चन्दनका बुरादा, (२) तिल, (३) शुद्ध घी, (४) शुद्ध चीनी, (५) अगर, (६) तगर,

(७) कपूर, (८) शुद्ध केसर, (९) नागरमोथा, (१०) पञ्चमेवा, (११) जौ और (१२) चावल ।

जाननेकी बातें

जिस उद्देश्यके लिये जो चौपाई, दोहा या सोरठा जप करना बताया गया है, उसको सिद्ध करनेके लिये एक दिन अष्टाङ्ग हवनकी सामग्रीसे उस चौपाई, दोहे या सोरठेके द्वारा १०८ बार हवन करना चाहिये । यह हवन केवल एक ही दिन करना है । इसके लिये कोई अलग कुण्ड बनानेकी आवश्यकता नहीं है । मामूली मिट्टीकी वेदी बनाकर उसपर अग्नि रखकर उसमें आहुति दे देनी चाहिये । प्रत्येक आहुतिमें चौपाई आदिके अन्तमें 'स्वाहा' बोल देना चाहिये । यह हवन रातको १० बजे बाद ही करना होगा ।

प्रत्येक आहुति लगभग पौन तोलेकी (सब चीजें मिलाकर) होनी चाहिये । इस हिसाबसे १०८ आहुतिके लिये एक सेर (८० तोले) सामग्री आठों चीजें मिलाकर बना देनी चाहिये । कोई चीज कम-ज्यादा भी हो तो आपत्ति नहीं । पञ्चमेवामें पिश्ता, बादाम, किसमिस (द्राक्ष), अखरोट और काँजू ले सकते हैं । इनमेंसे कोई चीज न मिले तो उसके बदलेमें नौजा या मिश्री मिला सकते हैं । केसर शुद्ध चार आने भर ही डालनेसे काम चल जायगा । अधिककी आवश्यकता नहीं है ।

हवन करते समय माला रखनेकी आवश्यकता एक सौ आठकी संख्या गिननेभरके लिये है । इसलिये दाहिने हाथसे आहुति देकर फिर दाहिने हाथसे ही मालाका एक मनका सरका देना चाहिये । फिर माला या तो बायें हाथमें ले लेनी चाहिये या आसनपर रख देनी चाहिये । फिर आहुति देनेके बाद उसे दाहिने हाथमें लेकर मनका सरका देना चाहिये । माला रखनेमें असुविधा हो तो गेहूँ, जौ या चावल आदिके १०८ दाने रखकर उनसे गिनती की जा सकती है । बैठनेके लिये आसन ऊनका अथवा कुशका होना चाहिये । सूती कपड़ेका हो तो वह धोया हुआ पवित्र होना चाहिये ।

मन्त्र सिद्ध करनेके लिये यदि लङ्काकाण्डकी चौपाई या दोहा हो तो उसे शनिवारको हवन करके करना चाहिये । दूसरे काण्डोंके चौपाई-दोहे किसी भी दिन हवन करके सिद्ध किये जा सकते हैं । रक्षा-रेखाकी चौपाई एक बार बोलकर जहाँ बैठे हों, वहाँ अडोला आसनके चारों ओर चौकोर रेखा खींच लेनी चाहिये। इस चौपाईको भी ऊपर लिखे अनुसार एक सौ आठ आहुति देकर सिद्ध कर लेना चाहिये । पर रक्षारेखा न भी खींची जाय तो भी आपत्ति नहीं है ।

एक दिन हवन करनेसे मन्त्र सिद्ध हो गया । इसके बाद जबतक कार्य सफल न हो, तबतक उस मन्त्र (चौपाई, दोहे) आदिका प्रतिदिन कम-से-कम एक सौ आठ बार प्रातःकाल या रात्रिको जब सुविधा हो जप करते रहना चाहिये, अधिक कर सके तो अधिक उत्तम । कोई चाहें तो नियमके जपके सिवा दिनभर चलते-फिरते भी उस चौपाई या दोहेका जप कर सकते हैं । जितना अधिक हो उतना ही उत्तम है ।

कोई दो कार्योंके लिये दो चौपाइयोंका अनुष्ठान एक साथ करना चाहें तो कर सकते हैं । पर दोनों चौपाइयोंको पहले दो दिनोंमें अलग-अलग हवन करके सिद्ध कर लेना चाहिये ।

स्त्रियाँ भी इस अनुष्ठानको कर सकती हैं, परंतु रजस्वला होनेकी स्थितिमें जप बंद रखना चाहिये । हवन भी रजस्वला अवस्थामें नहीं करना चाहिये ।

जप करते समय मनमें यह विश्वास अवश्य रखना चाहिये कि भगवान् श्रीसीतारामजीकी अहैतुकी कृपासे मेरा कार्य अवश्य सफल होगा । विश्वासपूर्वक जप करनेपर सफल होनेकी पूरी आशा है ।

श्रीगोविन्द स्वामी—एक अध्ययन

(लेखक—आचार्य श्रीपीताम्बररावजी तैलङ्ग)

जन्म और वंशपरिचय

व्रजवासी कविके अनुसार आपका जन्म संवत् १५७७ चैत्र शुक्ल नवमीको हुआ। आपके पिताश्रीका नाम पं० द्वारिकानाथ और माताका श्रीकालिन्दीदेवी था। यथा—

जनमें नाथ द्वारिका घरमें ॥
गोविंद स्वामि मातु कालिंदी, आनँद धाम सुवर में।
संवत पंद्रह सौ सत्तर पुनि, सात, मास-मधुवर में॥
नामी तिथि, पछ सुकल, सुवासर, जोग करन सुभ कर में।
व्रजवासी कवि प्रगट भए हैं, नाथ सखा रसवर में॥

अध्ययन

—इन्होंने अपने एक पदमें स्वयं यह बताया है कि इनके विद्यागुरु पिता श्रीद्वारिकानाथजी ही थे। जिन्होंने इनको हिंदी, संस्कृत, संगीत तथा वाद्यके साथ वेदविद्या भी पढ़ायी।

आपका शिक्षण सायं-प्रातः ग्रामनिवासी समवयस्क बालकोंके साथ होता था। भारतकी प्राचीन पद्धतिके अनुसार आपके पिताश्री अपने घरमें ही सर्वसाधारण विद्यार्थियोंको नित्य विद्या-दान किया करते थे और उसके फलस्वरूप उनको जो जनसेवा प्राप्त होती थी, उसीसे वे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते थे। यथा—

लागे फेर मोय पढ़ाइ।
साँझ-प्रात सिखान लागे, पिता श्री समुझाइ॥
संग बालक गाँव के लै, ज्ञान दीनौ भाइ।
भेद भाषा वेद विद्या, गान-वाद्य सुझाइ॥
कर दियौ गुनरूप आगर, चतुर नागर जाइ।
'दास गोविंद' दया करिकैं, कर दियौ सत भाइ॥

शरणागति

अध्ययनके साथ संगीत और वाद्यकी ओर उत्कट अभिरुचि होनेके कारण आपका मानसिक झुकाव काव्यकलाकी ओर हो गया और उसके फलस्वरूप आप नित्यप्रति नवीन छन्दोंकी रचना करने लगे। साथ ही उन्हें स्वयं गाने भी लगे। इनके गायनको लोग अधिक पसंद करते थे; क्योंकि भाषा-भाव और संगीत-शैलीके अनूठेपनके अतिरिक्त आपके कण्ठमें जो स्वरमाधुर्य था, उससे जनसाधारण अधिक प्रभावित होता था और यही कारण है कि सुननेवालोंमेंसे अधिकांश लोगोंने आपके बनाये हुए गीतोंको कण्ठस्थ कर लिया था तथा वे आपके गानेके ढंगका अनुकरण भी करने लगे थे।

इनमेंसे कुछ लोग एक समय गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके पास आये और उन्होंने वे गीत आपको गाकर सुनाये। उन्हें सुनकर गोस्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन गानेवालोंसे कहा कि यह तो बताओ कि ये गीत, जिन्हें तुमने अभी गाया है, किनके बनाये हुए हैं और वे कहाँ रहते हैं। इसके अतिरिक्त सम्भव हो तो, तुममेंसे कतिपय वैष्णव यहाँसे अभी चले जायँ और उन्हें मेरी ओरसे आग्रह करके अपने साथ ही यहाँ लिवा लायें।

गोस्वामीजीका यह आदेश पाते ही लोगोंने सर्वप्रथम गोविन्दस्वामीका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया और फिर उनमेंसे कुछ वैष्णव, जिनमें व्रजदासजी प्रमुख थे, वहाँसे चलकर गोविन्दस्वामीके पास आये और फिर गोस्वामीजीकी इच्छा तथा आग्रह प्रकट करते हुए उनसे अपने साथ चलनेका अनुरोध करने लगे।

उन दिनों गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके विश्वधर्म तथा योग-वैभवकी चर्चा भारतव्यापिनी हो चुकी थी और उससे प्रभावित होकर तत्कालीन भारतके अनेक प्रान्तीय शासक और स्वयं भारतसम्राट् अकबरके अतिरिक्त समस्त सुशिक्षित भारतीय नागरिक भी आपश्रीका चरण-शरणाश्रय प्राप्त करनेको लालायित होने लगे थे। इस बातकी सूचना गोविन्दस्वामीको भी मिल चुकी थी।

अतएव उन्होंने वैष्णव श्रीव्रजदासजीका अनुरोध स्वीकार कर लिया और वे उनके साथ गोस्वामीजीकी सेवामें जा पहुँचे। यथा—

विट्ठलनाथ गुसाँइ सुनैं, कछु गीत, कह्यौ, यह कौन बनाये।
हैं, वे कहाँ, उन्हें जाय कें ल्याव, औ गोकुल माह, बसाओ सुहाये॥
दौर, तबै व्रजदास सुवैष्णव, जाइ मिले, वन माह सुभाये॥
फेर कही अभिलाष गुसाइँ की, और लिवाइ कें, आये लुभाये॥

गोविन्ददासजीने गोस्वामीजीकी सेवामें पहुँचकर सर्वप्रथम उनका पाद-प्रक्षालन किया और फिर चरणोदक लेकर वे पुनीत गीत गाने लगे। साथ ही उन गीतोंका भाव स्पष्ट करने लगे। जिन्हें सुनकर गोस्वामीजीको हार्दिक प्रसन्नता हुई और उसके

फलस्वरूप उन्होंने आपको श्रीजीकी सेवामें रख लिया। इसके उपरान्त गोविन्द स्वामीजीने आपश्रीसे दीक्षा ग्रहण की।

यथा—

आइकें गोविंद स्वामि गुसाँई के, पाद पखार कैं, अमृत लीने।
फेर सुगाइकें गीत पुनीत, रिझाये गुसाँइ, गुरू पुनि कीने॥
सेवामें राखि लियौ उन गोविंद, नाथ सनाथ कियौ, रस भीने।
गाइकें गोविँद, भाव बताइकें, हाव जताइ कें, आनँद दीने॥

इस घटनापर गोविन्द स्वामीजीने स्वयं ही अपने एक पदमें कहा है कि व्रजदास वैष्णवके द्वारा मुझे यह तथ्य परिज्ञात हुआ कि वर्तमान भारतमें गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ही एक ऐसे समर्थ आचार्य हैं, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य-लीलाओंका साक्षात्कार होता है। किंतु इतनेपर भी मुझे पूर्ण विश्वास न हुआ। अतएव मैं स्वयं श्रीमान् गोस्वामीजीकी सेवामें पहुँचा और अन्तमें उन्हें उसी रूपमें पाया, जैसा कि उनके सम्बन्धमें मैंने लोगोंसे सुना था। यथा—

विट्ठल करि राखे वस ठाकुर।
यह सुन मैं वैष्णव सू, देखे जाइ अनौखे नागर॥
व्रज-लीला-रसरंग-रँगे औ, प्रेमी पंथ-उजागर।
वल्लभ-कुल-नवकमल-दिवाकर, आकर-भक्ति-सुखाकर॥
विनके सुम आसीरवाद सूँ, पायौ ज्ञान-गुनाकर।
विनकी जय होवै नित नूतन, जगभूषन-रससागर॥
'गोविंद' प्रभुके सरवस नवरस, दायक-संत-सुखाकर।

आत्मनिवेदन

एक दिन गोविन्द स्वामीने अपने गुरुदेव गो० श्री० विट्ठलनाथजीसे अपनी मानसिक स्थितिको स्पष्ट करते हुए प्रार्थना की कि 'मेरा मन आराधना-मार्गसे हटकर प्रायः यत्र-तत्र सर्वत्र भ्रमण किया करता है। साथ ही संध्या-भजन-पूजा-पाठ आदि कार्य करते समय जब रसोत्पत्ति होने लगती है, तब यह उस रसमें विष-जैसा कोई पदार्थ घोलने लगता है। इसी प्रकार जब कभी कोई संत-समागम किंवा भगवदीय जनोंकी सेवाका पुण्य क्षण प्राप्त होता है, तब यह उस स्थलसे ही भागने लगता है और जहाँ विषयीजनोंका दर्शन होता है, वहाँ जाकर उनसे हँसने लगता है, बोलने लगता है अथवा हँस-हँसकर मिलने लगता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी यह आवश्यकतासे अधिक रूपमें रस-लम्पट होकर काम-भावनासे बँध जाता है। अतएव आप कृपाकर इसे ऐसे बन्धनमें बाँध दीजिये, जिससे यह वहाँसे जा ही न सके।'

इतना कहकर उन्होंने यह भी प्रार्थना की कि 'महाराज! कृपाकर आप इसे अपना बिना मोलका दास भी बना लीजिये; क्योंकि यह मेरी बनी बिगाड़ रहा है। यथा—

नाथ! मन मेरौ इत उत डोलै।
साधन-भजन-पाठ-पूजाके रसमें विष सौ घोलै॥
साधुसंग हरिजन-सेवा सूँ, उचट बिषयि हँस बोलै।
कबहूँ रस-लम्पट है कामी, कामिन-संग कलोलै॥
यातें याहि बाँध लौ अब तौ, करौ दास बिनमोलै।
नातर प्रभु गोविंदके स्वामी, बात बिगारत होलै॥

गुरु-कृपा

निम्नाङ्कित पदसे यह प्रमाणित होता है कि आपकी प्रस्तुत प्रार्थनापर ध्यान देकर श्रीविट्ठलनाथजीने [illegible] अपनी असीम अनुकम्पा प्रदर्शित करनेके लिये [illegible] चञ्चल मनको अपने यौगिक-प्रभावसे यशोदोत्सङ्गलालित-आनन्दकन्द श्रीकृष्णचंद्रका साथी बना दिया और इसके साथ ही इन्हें सखाभावका मर्म भी समझा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इनके हृदयमें अबतक जो आराधना-विरोधिनी स्थिति उत्पन्न हो जाया करती थी, उसका सर्वथ[illegible] अभाव हो गया और उसके साथ ही इन्हें एक अद्भु[illegible] एवं अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूति भी होने लगी[illegible] यथा—

विनती सुन लीनी गुरुवरने॥
नाथ-साथ कर दीनों मनकूँ, जनकूँ सेवा करने।
राख लियौ घरमेंई दैकें, खातिर विट्ठल वरने॥
सखा भावकी रीति सिखाई, प्रीति लगाई हरिने।
गोविंद प्रभु सब आनँद है गयौ, दया करी गिरिधर ने॥

दिव्य सत्संग

इसके बाद गोविन्द स्वामीके जीवनमें एक अभिनव अध्याय आरम्भ हुआ और उसके फलस्वरूप उन्हें आनन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द्रके साथ अनेक दिव्य गोप-ग्वालोंके दर्शन भी होने लगे और उनके साथ विविध खेल खेलनेका सौभाग्य भी प्राप्त होने लगा। इसका साक्षी निम्नाङ्कित पद है; क्योंकि इसके अनुसार श्रीनाथजी और गोविन्द स्वामी प्रायः नित्य ही सायं-प्रातः प्राकृतिक बालकोंकी तरह एक साथ घूमने निकलते थे और प्राणोल्लासकारी समीरका सेवन करते हुए कई प्रसिद्ध भारतीय खेल भी खेला करते थे। उनमेंसे एक विशिष्ट खेलकी रीतिके अनुसार कभी-कभी गोविन्दस्वामी घोड़ा बनते और उनकी पीठपर उनके सखा सप्तवर्षीय श्रीकृष्ण सवार होकर यत्र-तत्र भ्रमण करते। इसी तरह कभी-कभी श्रीनाथजी घोड़ा बनते और उनकी

पीठपर गोविन्दस्वामी सवार होते और इस रीतिसे उक्त खेलकी परिपाटी पूरी किया करते थे । यथा—

(१)

नाथ गुविंद कलिंदके तीर, खिलैं बहु बालक संग सदाई ।
कबहूँ बन अश्व गुविंद चलैं, पुनि जाय चढ़ैं, हँस नाथ लुभाई ॥
नाथ कबूँ बन जाँय तुरंग, चढ़ै पुनि गोविंद प्रेम जनाई ।
ऐसोई खेल करैं सब मेरु, रहैं अनमोल सुमोद बढ़ाई ॥

(२)

गुरु स्वामि गुविंद कलिंदके तीर, लखे यदुवीरके संग सलोने ।
खेलत खात कछू बतरात, हँसावन जात, सुराग सों भीने ॥
छवि देख भयौ मन प्रेम प्रमत्त गई सुधि, नेह नवीने ।
दिन सौं गुरु देख परे, जग माह, सुनेम सौं प्रेम सने ॥

गुरुद्वारा प्रशंसा

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी प्रायः नित्य ही यह देखा करते थे कि गोविन्द स्वामी श्रीनाथजीके साथ खेलने चले जाते हैं और यही कारण है कि उनके दैनिक कार्यक्रम कुछ अस्त-व्यस्तसे हो गये हैं । जैसे वे राजभोगके प्रथम ही महाप्रसाद ले लेते हैं । मार्ग चलते-चलते पेशाब करने लगते हैं । इसके साथ ही मन्दिरमें प्रभुदर्शनके निश्चित समयोंपर प्रायः अनुपस्थित रहते हैं ।

एक समय गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने देखा कि गोविन्दस्वामी अचानक राजभोगके समय स्वतः आ गये हैं और स्वस्थ हैं । उस समय गोस्वामीजीने गोविन्द स्वामीसे कुछ गीत सुनानेका आग्रह किया । तब गोविन्दस्वामीने गोस्वामीजीको ऐसे मधुर गीत सुनाये, जिनमें ब्रजकी दिव्य-लीलाओंका वर्णन था । उनको सुनकर गोस्वामीजीको हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने उस समय वहाँ बैठे हुए वैष्णव-समूहसे कहा कि 'देखो, गोविन्दस्वामीके पदोंमें जिस ढंगसे ब्रजलीलाओंका चित्रण किया गया है, वह बिलकुल अनूठा है और उसमें प्रतिपादित रस-विशेषको साकार करनेकी रीति तो इनका अपना वैशिष्ट्य है ।

'इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि इनके इन छन्दोंमें साहित्यिक सौष्ठव भी है । अतएव जब ये अपने सुन्दर छन्दोंको अपने कोकिल-जैसे कण्ठसे गाते हैं और उनके भावोंको स्पष्ट करते हुए उनमें डूब जाते हैं, उस समय इनका 'प्रभु-प्रेम' देखते ही बनता है ।'

इतना कहकर गोस्वामीजी थोड़े समयके लिये चुप हो गये और फिर कहने लगे कि 'गोविन्दस्वामीकी प्रस्तुत अपूर्व स्थितिको देखते हुए मैं तो यही कहूँगा कि वर्तमान भारतवर्षमें मैंने अनेक प्रभावशाली भक्तोंको देखा और अनेक भक्तोंके पवित्र चरित्रोंकी बहुत-सी बातें सुनीं, किंतु उनमें गोविन्दस्वामी-जैसा अनन्य भक्त न तो देखनेको ही मिला और न सुननेको ही ।'

यहाँ यह कह देना सर्वथा संगत होगा कि ये जैसे भक्त हैं, वैसे ही गायक तथा वादक भी हैं । इसके अतिरिक्त ये अनोखे जन-नायक भी हैं ।

यही कारण है कि ये विश्व-कल्याणका संकल्प लेकर भारतीय जन-प्राङ्गणमें अवतरित हुए हैं ।

अब इस घटनाको एक अज्ञातनामा कविके शब्दोंमें सुनिये:—

(१)

काऊ समै सुन गीत पुनीत, गुसाँई कह्यौ, रस रीति अनोखी ।
गोविंदके गुन कंठमें आइ, बसे, नव भाव सौं, साहित सोखी ॥
एसौ सुनौ नहिं देखौ कहूँ, कवि संत सुगायक नायक नोखी ।
जाकौ हियेई सदा ही रहैं, श्रीनाथ सनाथ करैं, पुनि पोखी ॥

इसी प्रकार एक दिन पुनः गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी वैष्णव-समाजमें बैठे हुए थे । उसी समय गोविन्दस्वामी न जाने कहाँसे वहाँ आ गये और प्रणाम कर चुपचाप बैठ गये । इन्हें देखते ही गोस्वामीजीने इनसे कहा कि 'गोविन्द, मैंने तुमको सखाभाव-साधनकी रीति सिखायी थी और उसके अनुसार तुम सखाभावसे श्रीनाथजीकी सेवा किया करते हो । अतएव तुम यह बताओ कि तुमने कभी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्दको गाते सुना है, वेणु बजाते देखा है । इसके अतिरिक्त तुम यह भी बताओ कि तुमने कभी श्रीराधा और श्रीकृष्णकी नित्य-विहार-यात्राका दर्शन किया है और कभी उन दोनों-को नृत्य करते भी देखा है ?'

इतना सुनकर गोविन्दस्वामीने अपने परमगुरु श्रीगो-स्वामीजीके समक्ष यह स्वीकृत किया कि 'हाँ, महाराज, मैंने आपश्रीके अनुग्रहसे प्रभुकी रास-लीलाका पवित्र दर्शन किया है । और यह भी देखता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजीके साथ नित्य विहार-यात्रा किया करते हैं और उनका यह सनातन क्रम अद्यावधि चल रहा है । फिर भी यदि इस विषयमें आपश्रीको कुछ संदेह हो, तो आप मेरे साथ पधारिये । मैं और आप दूर बैठकर लीलादर्शन करेंगे ।'

इतना कहकर गोविन्दस्वामी चुप हो गये और

पुनः कुछ सोचकर गोस्वामीजीसे कहने लगे कि 'सुनिये, महाराज ! जब रास-लीलाका समय प्रस्तुत होता है, तब सर्वप्रथम श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजीको लीला-नेतृत्व करनेका अनुरोध करते हैं। उस समय श्रीराधाजी संगीतका प्रारम्भ कर देती हैं और उनका अनुकरण भगवान् स्वयं करने लगते हैं। आपके इस कार्यसे श्रीराधाका उत्साह द्विगुणित हो जाता है और फिर वे रास-लीलाका रंगमंच विधिवत् प्रस्तुत करनेमें संलग्न हो जाती हैं; क्योंकि उन्हें तबतक असीम उत्साह एवं प्रबल प्रसन्नताकी प्रेममयी प्रसरणशील तरंगका अद्भुत प्रभाव रास-लीला-सदस्योंपर स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है।

'तदुपरान्त श्रीराधाजी लीला-सदस्योंको लीला-कार्यक्रम समझाकर श्रीकृष्णजीके पास आ जाती हैं। और फिर उनसे कहती हैं कि अब रासलीला प्रारम्भ की जाय। आपके आग्रहपर श्रीकृष्णचन्द्रजी गायन प्रारम्भ कर देते हैं और उनका अनुसरण श्रीराधाजी करती हैं। तदुपरान्त श्रीराधाजीके आदेशानुसार अन्य समस्त रास-लीलासदस्य विधिवत् दो-दोमें बट जाते हैं और उन सबका सामूहिक गायन चालू हो जाता है।

'उस समय उपस्थित समूह यह देखकर आश्चर्यचकित होता है कि प्रत्येकके साथ श्रीकृष्ण उपस्थित हैं तथा गायन कर रहे हैं। इस तरह कुछ समय गायन होनेके बाद नृत्यक्रम आरम्भ हो जाता है और वैशिष्टय यह है कि नित्य अभिनव नृत्य-शैली सजायी जाती है।'

आइये, इस घटनाको ब्रजवासी कविके शब्दोंमें सुनायें—

स्वामिन सँग स्वामीजू गावैं।
नित बिहार कौं जावैं॥
जमुना तट पै बंसी वट पै,
मोहन वेनु बजावैं।
स्वामिन जू आलाप करैं तब,
स्वामी तान लगावैं॥
दोनों मिलि गावैं, हिय हुलसावैं,
औ तब नृत्य सजावैं।
नचैं नचावैं रास रचावैं,
प्रेम रूप दिखरावैं॥
मैं यह देखत रहत नित्य ही,
बैठो दूर दिखाऊँ।
चलौ आज गुरु जू मेरे सँग,
ब्रज लीला दरसाऊँ॥
यह सुन बचन स्वामि गोविंद के,
विट्ठलनाथ गुसाँई।
हँसन लगे औ करन प्रसंसा
'ब्रजवासी कवि' गाई॥

एक समय गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी श्रीनाथजीके मन्दिरमें गये और दर्शन करने लगे। ज्यों ही उनकी दृष्टि प्रभुके दामनपर पड़ी, त्यों ही उन्होंने देखा कि दामन तो फटा हुआ है। तब उनको विशेष आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे यह सब कैसे हुआ, किसने किया। इस तरह थोड़ी देर तक ऊहापोह करनेके उपरान्त जब उनकी समझमें कुछ न आया, तब वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये; क्योंकि उनका मन कुछ भी स्थिर नहीं कर पाता था। अतएव वे गर्भ-मन्दिरसे बाहर आये और 'पौरिया' संज्ञक द्वार-सेवकसे पूछने लगे कि 'अभी जबसे तुम यहाँ हो, क्या कोई मन्दिरके अंदर गया था और उसने श्रीजीका दामन फाड़ा है ?' यह सुन पौरियाने कहा कि 'महाराज, जबसे मैं यहाँ आया हूँ, तबसे मन्दिरके अंदर कोई नहीं गया और न किसीने प्रभुका दामन ही फाड़ा है।'

इसके बाद गोस्वामीजी कुछ विचार करते हुए अपने 'बैठक' में चले गये। उसी समय गोविन्द स्वामी भी कहींसे आ पहुँचे। दोनोंका आमना-सामना हुआ। गोविन्दस्वामीने आज ज्यों ही अपने गुरुदेवको अनमना देखा, त्यों ही उन्होंने प्रार्थना की कि 'महाराज ! आज आपका मन उदास क्यों है ? आप अन्यमनस्क-से कैसे हैं ?'

इसपर गोस्वामीजीने कहा कि 'अभी-अभी मैं श्रीजीके दर्शनार्थ मन्दिरमें गया था। वहाँ जब मैंने श्रीहरिका फटा हुआ दामन देखा, तब मैं आश्चर्यचकित हो गया। मेरी समझमें कुछ भी न आया। मैंने तपास किया एवं पौरियासे भी पूछा, किंतु संतोषजनक उत्तर न पा सका।'

यह सुनकर गोविन्दस्वामीने कहा कि 'गुरुदेव आपश्रीके परम लाड़िले श्रीनाथजी महाराज आज 'वनराज'में खेलने पधारे थे। वहाँ खेलते समय इनका दामन एक ढाकवृक्षमें उलझकर फट गया। इसीलिये आपको फटे दामनके दर्शन हुए हैं। मेरे इस कथनपर यदि आपको विश्वास न हो तो आप मेरे साथ चलें। मैं आपको वह स्थल दिखा दूँगा, जहाँ दामन उलझकर फट गया था।''

इतना सुनते ही प्रस्तुत घटनाकी सत्यताकी जाँच करनेके लिये गोस्वामीजी गोविन्दस्वामीके साथ वनराजकी ओर चल दिये और वहाँ पहुँचे जहाँ ढाकवृक्षमें उलझा हुआ दामन-का फटा हिस्सा पड़ा था। उसे देखकर गोस्वामीजीको गोविन्दस्वामीपर दृढ़ विश्वास हो गया और वे फिर प्रभु-लीलाका स्मरण करते हुए वापस आ गये। यथा—

दामन फट्यौ क्यों है आज।
यों कहत बौराइगे हैं नाथ विट्ठल राज॥
बहुत सोच विचार करिकें, आये बाहिर काज।
कहन लागे पौरिया सौं, कौन आयौ आज॥
कौन ने फारयौ सुदामन, कौन फिरगौ भाज।
फेर आकें जम गये वे, बैठका में गाज॥
बाइ बिरियाँ आ गये वे, दास गोविँद साज।
अनमनेसे गुरू लखिकें, लगे पूँछन काज॥
तबै श्रीजू नाथ विट्ठल ने कह्यौ वह राज।
फट गयो र है सुदामन, नाथ कौ किहि काज॥
तब हसे गोविंद दास औ पुनि कहन लागे गाज।
नाथ श्रीजू खेलिवे कौं, गये ते वनराज॥
फारि लाये हैं सुदामन, खेल मैं महराज।
हैं बड़े चंचल तुम्हारे, नाम के ब्रजराज॥
चलौ अबहुँ दिखाय लाऊँ, फटौ दामन ढाक।
फेर वे दोनों चले औ, देखिवे कौ ढाक॥
ढाक ऊपर फटौ दामन, देखिकें हैरान।
हो गये 'ब्रजवासि' कविजू, करन लागे गान॥

विश्वधर्म

यह पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है तथापि इस मार्गमें सम्मिलित होनेवालेके लिये सत्यवक्ता, सत्याचरण, तथा सत्याग्रही होनेकी शर्त रक्खी गयी है और यह भी कहा गया है कि इसके प्रत्येक सदस्यका यह परम कर्तव्य होगा कि वह संसारकी प्रत्येक वस्तुको प्रभुमय देखे और संसारके प्रत्येक जीवको अपना बन्धु-सखा अथवा स्वामी आदि यथारुचि मानकर उसके साथ आत्मीयताका व्यवहार करे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' माने। गोविन्दस्वामीके मतानुसार ऐसा करनेसे ही संसारसे दुःखोंकी समाप्ति हो सकती है और सबको नित्य-सुखकी सम्प्राप्ति हो सकती है। यथा—

जगमें पुष्टिमार्ग सुखकारी।
जता दियौ विट्ठलने दाया, करिकें सब सुखकारी।
जाति भेद नहिं, देस भेद नहिं, जामें बाधाकारी॥
स्त्री-पुरुष, नीच ऊँचेकूँ, इक अधिकार समानौ।
साँचौ भाव चाहिये सबमें, येही मतौ सुहानौ॥
जगकूँ बंधु सखा स्वामी करि, मानौ प्रभू-प्रमानौ।
'गोविंद' प्रभु तब दुक्ख मिटैगो सुक्ख बढ़ैगो जानौ॥

सम्पूर्ण-परिचय

ब्रजवासी कविने गोविन्द स्वामीका सम्पूर्ण परिचय करानेके लिये दो पद लिखे हैं, जिन्हें मैं नीचे उद्धृत करता हूँ। इनसे यह प्रमाणित होता है कि गोविन्द स्वामी सनाढ्य ब्राह्मण थे और अपने समयके उच्चकोटिके गायक, वादक, कवि एवं संत भी थे। यथा—

जय सनाढ्य तप आढ्य, जाड्य हर, कृष्ण सखा वर।
जय विट्ठल पद सु-रज अराधक, भावुक-जनवर।
जय कालिंदी कूल विहारी, कोकिल कंठी।
जय गोवरधननाथ पाद सेवी, रसकंठी।
जय जयति भागवत-भाव रस, लोलुप-मधुकर गीत जय।
जय जयति स्वामि गोविंद जय, बासी ब्रज जय गीत जय॥
जयति स्वामि गोविंद, स्यामस्यामा पदसेवी।
जयति पुष्टि पथ द्रष्टि, प्रेम रस रंग-सजोवी।
जयति द्वारिकानाथ, मातु कालिंदी सूनू।
जय-वल्लभ-कुल-सुजस, सुगायक-वादक-वेनू।
जय जयति गुवरधननाथ पद प्रेमी नेमी गानप्रिय।
जय जयति सुजन-गन-मान-प्रिय, सेवी-साधु-सुजानप्रिय॥

अन्तमें मैं यहाँ बता देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत लेखमें उद्धृत किये गये, गोविन्द स्वामी तथा कविवर ब्रजवासीजीके कतिपय छन्द मुझे अपने प्राचीन काव्यसंग्रहमें प्राप्त हुए हैं। मेरे उक्त संग्रहमें अष्टछापके अन्य कवियोंके भी बहुत-से छन्द हैं और जो ब्रजलीला-साहित्य किंवा पुष्टिमार्गीय-इतिहासकी बहुमूल्य सम्पत्ति है।

अतएव मैं पुष्टिमार्गके प्रेमियोंसे प्रार्थना करूँगा कि वे सब महानुभाव इसी रीतिसे यत्र-तत्र अथवा विशेष स्थानोंमें बिखरी हुई साम्प्रदायिक साहित्यिक सामग्रीको एकत्रित कराकर उसे सुसम्पादितरूपमें प्रकाशित करानेकी कृपा करें। अन्यथा कालान्तरमें उसके नष्ट-भ्रष्ट होनेकी आशङ्का उपस्थित हो सकती है।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्। शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

'भगवान् श्रीहरिके नाम-कीर्तनसे शारीरिक, मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है; स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मा-सम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, दुःख-दारिद्रय, तमसाच्छन्न बुद्धि-[illegible]मय अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीडित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प [illegible] महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छा[illegible] चार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणियोंके, सभी जातियोंके, सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रति-वर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१—यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२—इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (१५ नवम्बर १९५९) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (११ अप्रैल १९६०) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१७ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी सदा जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है।

३—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४—एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक जितना भी किया जा सकता है।

५—संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, उँगलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सभी समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजस्वलाके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

एक अंग्रेजकी मानवोचित सहृदयता

मैं गत दिनाङ्क २७ । ९ । ५९ को राष्ट्रभाषाकी परीक्षा देने बड़ा हापजान केन्द्रमें गया था । लगभग चार बजे सभी परीक्षार्थी अपने परचे लिखनेमें लगे थे । अकस्मात् बड़े जोरकी आवाज आयी । हमने बाहर जाकर देखा तो हमें एक जीप गाड़ी उलटी पड़ी दिखायी दी । उसके मुसाफिर जल्दी-जल्दी बाहर निकल रहे थे । गाड़ीमें आग लग गयी थी । दो यात्रियों-के शरीर खूनसे लथपथ थे और वे कुछ दूरपर बेहोश पड़े थे । हममेंसे कुछ लोग पानी लाकर आग बुझाने और दोनों बेहोश व्यक्तियोंको चेत करानेकी चेष्टामें लग गये । कुछ देर बाद उनको होश आया, परंतु उनमें एक पुनः बेहोश हो गया । बहुत लोग इकट्ठे हो गये । वहाँ कोई अस्पताल नहीं था । सब निरुपाय थे । कोई सवारी नहीं थी । अस्पताल लगभग दो माइल था । कई छोटी-बड़ी मोटरें, जीपें, ट्रकें आयीं, उनमें बैठे लोगोंने सब देखा । कुछने पूछा भी—सारा हाल तथा आवश्यकताकी जानकारी भी की; परंतु किसीके मनमें घायलोंको अस्पताल पहुँचानेकी नहीं आयी । मोटरें आयीं, ठहरीं और चली गयीं ।

कुछ ही देर बाद एक कार आयी । उसमें एक अंग्रेज सज्जन थे, जो सपरिवार दुमदुमासे पानीतोला जा रहे थे । उन्होंने गाड़ी रोकी, सहानुभूतिके साथ सब पूछा और यह जाननेपर कि दो आदमियोंको चोट लगी है, जिनमें एक अभी बेहोश है—कहा 'मैं अपनी गाड़ीसे अभी इनको अस्पताल ले जाता हूँ । आपमेंसे एक सज्जन मेरे साथ चलिये ।' तदनन्तर उन्होंने अपने स्त्री-बच्चोंको किसी तरह आगेकी सीटपर बैठाया और स्वयं हाथ बँटाते हुए उन घायलोंमें-से एक बेहोशको सीटपर लिटा दिया और दूसरेको सहारा देकर बैठा लिया । अस्पतालमें ले जाकर उनकी अच्छी तरह मरहमपट्टी करवायी तथा अन्य सब पूरी व्यवस्था करनेके बाद वे अपने घर गये । वे अंग्रेज सज्जन यह काम न करते तो दोमेंसे एककी तो मृत्यु हो ही जाती । धन्य है उनकी मानवोचित सहृदयता ।

—देवीदत्त केजड़ीवाल

(२)

बहिनसे प्रेम

रामकुमार और रामविलास दोनों सगे भाई थे । आसामके एक मुकाममें उनकी दूकान थी । दोनों भाइयोंमें और दोनोंकी पत्नियोंमें परस्पर अत्यन्त प्रेम था । दूकानका काम बहुत ठीक चलता था । वे सारा काम हाथसे करते । बहुत थोड़ा इन्कमटैक्स था, आज-की भाँति सरकारी लूट थी नहीं, सब चीजें सस्ती थीं । अतएव दूकानमें खर्च काटकर तीन-चार हजार रुपये वार्षिक मुनाफेके बच जाते थे । अभी तीन ही साल दूकान किये बीते थे । पाँच-सात हजारकी पूँजी हो गयी थी । बहुत सुखी थे ।

उस समय विलासिता तो थी नहीं । इसलिये पैसे फजूल खर्च नहीं होते थे । कपड़ोंका खर्च बहुत ही कम था । जो रुपये बचते, उसके ठोस सोनेके गहने बना लिये जाते थे । इन भाइयोंके पास जब आठ हजारकी पूँजी हो गयी, तब तीन हजारका सोना खरीदकर उसके 'बंद बगड़ी' बनानेका निश्चय सर्व-सम्मतिसे हुआ । बड़े भाई रामकुमार तथा भाभीके बहुत अधिक आग्रहसे पहले रामविलास (छोटे भाई) की स्त्रीके लिये गहना बनाया गया । देशसे गहना बनकर आ गया । छोटे स्थानमें गहना पहनकर कहाँ जातीं । विवाह-शादीमें ही गहना पहना जाता । अतएव जो बंद बगड़ी बनकर आये थे, उन्हें कपड़ोंकी पेटीमेंही सँभालकर रख दिया गया । लोहेकी आलमारी तो तबतक मँगवायी नहीं थी ।

इनके एक बड़ी बहिन थी—मनभरीबाई । माँ पहले मर गयी थी । इसलिये बहिनने ही दोनोंको देशमें पाला-पोसा था । बहिनके पतिका एक साल पहले देहान्त हो गया था । उसका लड़का गल्लेका व्यापार करता था । अनाज भरकर रखता, फिर धीरे-धीरे बेचता ।

पर उसके दैवदुर्विपाकसे अनाजमें बड़ी मन्दी आ गयी। उसके आठ-दस हजारका घाटा हो गया। जहाँतक बना, गहना आदि बेचकर महाजनका ऋण उतारनेकी चेष्टा की गयी। पर लगभग तीन हजार रुपये दो महाजनोंके बाकी रह गये। वे बहुत कड़े आदमी थे। नालिश करके उन्होंने डिग्री करवा ली। मनभरीबाई पतिके मर जानेके बाद भाइयोंके पास आसाम आयी थी और वहीं ठहर गयी थी। दोनों भाई उसे माँकी तरह मानते, भौजाइयाँ बड़े आदर-सम्मानसे उसकी सेवा करतीं और उसके आज्ञानुसार चलतीं। इसी बीचमें मनभरीबाईके लड़केका अपनी माँके नाम गुप्त पत्र आया। एक आदमी देशसे आया था, उसीके हाथ पत्र मनभरीको मिला और वहीं उसे एकान्तमें पढ़ा भी गया।

पत्रमें सारी हालत लिखी थी। वे लोग डिग्री जारी करवाकर मकान नीलाम करवाना चाहते थे, यह लिखा था। साथ ही लड़केने यह भी लिखा था कि 'मेरा जी बहुत घबरा रहा है। कई बार आत्महत्या करनेकी मनमें आती है' और जल्दी माँको देश बुलाया था। इस पत्रको सुनकर मनभरीबाई अत्यन्त चिन्ताग्रस्त हो गयी। उसकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। किसी तरह पुरखोंकी इज्जत और लड़केकी जान बचानी है। भाइयोंसे कहनेकी हिम्मत नहीं हुई। मनमें पाप-बुद्धि आयी। कामना ही पापकी जड़ होती है। उसने मनमें निश्चय किया—भाभीकी पेटीमेंसे गहना निकालकर ले चलना है। पीछे देखा जायगा। इससे एक बार तो काम चलेगा, लड़केके प्राण बच जायँगे। मेरे जमा लेनेपर भाइयोंकी रकम वापस कर दी जायगी।

भाइयों-भाभियोंको समझा-बुझाकर जानेका दिन निश्चय कर लिया गया और उपर्युक्त पाप-निश्चयके अनुसार भाभीकी पेटी खोलकर बंद-बँगड़ी (गहने) निकाल लिये गये। चाभी इन्हींके पास रहती थी। यही मालकिन थी। परंतु जिस समय यह भाईकी कोठरीमें भाभीकी पेटी खोलकर गहना निकाल रही थी, उस समय उसी कोठरीमें सोये हुए छोटे भाई रामविलासकी नींद टूट गयी। उसने सब देख लिया। पर जान-बूझकर आँखें मूँद लीं। मनभरीबाई सफल-मनोरथ होकर कोठरीसे बाहर चली गयीं। रामविलासने किसीसे कुछ नहीं कहा, मानो कुछ हुआ ही नहीं। बड़ी प्रसन्नतासे जो कुछ बना देकर भाइयों और भाभियोंने हाथ जोड़े और आँखोंसे आँसू बहाते हुए मनभरीबाईको विदा कर दिया। अवश्य ही मनभरीबाईके आँसू दो प्रकार थे; स्नेहहृदय भाई-भाभियोंके बिछोहके और साथ ही अपने कुकर्मकी ज्वालाके। उसने बाध्य होकर ही पाप किया था, परंतु तबसे उसका हृदय जल रहा था।

मनभरीबाई देश पहुँच गयीं। उसके पहुँचका पत्र आ गया। तभी उन्हें उसके लड़के (भानजे) की बुरी हालतका पूरा पता लगा। तब एक दिन रामविलासने अकेलेमें सारी बातें अपने बड़े भाई रामकुमारको बताकर कहा—'भाईजी! बाईका जन्म इस घरमें हमसे पहले हुआ था। उसीने हमको पाला-पोसा, आदमी बनाया। हम अपने चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर उसे पहना दें, तब भी बदला नहीं उतर सकता। फिर—हमारे ही माता-पिताकी पहली संतान होनेके कारण उसका अधिकार भी तो है ही, इस समय वह बहुत संकटमें है। पतिका देहान्त हो गया। घरमें घाटा लग गया। हमारी बहिनने संकोचमे पड़कर ही यह काम किया है। नहीं तो, उसके कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी, हमें पता लगनेपर अपने कपड़े-गहने ही नहीं, अपना शरीर बेचकर भी हम उसका दुःख दूर कर देते। यही हमारा धर्म है। अब भाईजी! उससे कुछ नहीं कहना है। आप कहें तो मैं आपकी बहूको सब समझा दूँ।' भाई रामकुमार छोटे भाईकी इस श्रेष्ठ भावनाको जान-सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। दोनोंने सलाह करके दोनों स्त्रियोंको बुलाया। वे स्त्रियाँ भी सचमुच साध्वी थीं। सुनकर छोटे भाईकी स्त्री (जिसका गहना था) ने अपने जेठानीकी मारफत यह कहलाया कि—'यह तो

बहुत ही अच्छा हुआ कि इस संकटमें यह गहना बाईजीके काम आ गया। यहाँ तो फालतू ही पड़ा था। एक दुःख इस बातका अवश्य है, वह यह कि मेरे मनमें अवश्य कोई स्वार्थ या ममताकी विशेषता है, उसीके कारण बाईजीको संकोचमें पड़कर यह काम करना पड़ा और उन्होंने मुझसे कुछ कहा नहीं। शायद उनको यह शंका होगी कि माँगनेपर यह नहीं देगी। आपलोग तो तीनों दे ही देते, मेरे ही पापी हृदयके डरसे बाईजीको इस प्रकार करना पड़ा।' बहूकी बात सुनकर जेठ-जेठानीका हृदय गद्गद हो गया। उनकी आँखोंसे प्रेमके आँसू बह चले। उसके पति रामविलास-के तो आनन्दका पार ही नहीं था। वह तो इस प्रकारकी साध्वी तथा उदारहृदया पत्नीकी प्राप्तिसे आज अपनेको अत्यन्त गौरवान्वित समझ रहा था।

दो वर्ष बाद मनभरीबाईकी लड़कीके विवाहमें सारा परिवार भात भरने गया। वहाँ मनभरीबाईने पहलेसे व्याजसमेत पूरे रुपये तैयार कर रखे थे। लड़केने अकस्मात् रुपये कमा लिये थे। मनभरीबाईने अपने भाई-भाभियोंके सामने थैली रख दी और वह सुबक-सुबककर रोने लगी। सभीके धीरजका बाँध टूट गया। पाँचों रोने लगे। सबके हृदयोंमें पवित्र भावोंकी रसधारा उमड़ रही थी और वही आँसुओंके रूपमें बाहर बहने लगी थी।

भाइयों और भाभियोंने रुपये लिये नहीं। बड़े आदरसे पूरा संतोष करवाकर लौटा दिये। उन चारोंने बहिनके इस कार्यमें उसको नहीं, अपनेको ही दोषी माना और कहा कि 'बाई! हमारे स्नेहमें कमी थी, प्रेमका अभाव था। हम अपनी वस्तुओंपर अपना ही अधिकार मानते थे, बहिनका नहीं। तभी हमारी सुजहृदया बहिनको संकटके समय उससे बचनेके लिये छिपकर गहना लेना पड़ा। यह हमारा ही कलुष और कुभाग्य है।' धन्य।

—हरदेवदास

(३)

काछी बालकपर श्रीगोपालजीकी कृपा

ग्राम करारागंज, जिला छतरपुर म० प्र० में प्रति-वर्ष श्रावण द्वादशीको श्रीगोपालजी महाराजका जल-विहार होता है। इस वर्ष भी दिनाङ्क १४। ९। ५९ सोमवारको सायं ४ बजे श्रीगोपालजीका विमान मन्दिरसे उठकर दशरथी (धसान) नदीमें विहारके लिये गया। वहाँसे ग्राममें भ्रमण करनेके लिये लौटा। उस समय ग्राममें अन्नदान अथवा चढ़ोतरीके रूपमें जो मिलता है, उसका कार्य 'चेंपला' नामक ८-९ एक काछी बालकको श्रीमहंतजीने सौंपकर उसे एक टोकनी दे दी और समझा दिया कि प्राप्त अन्न इसमें लेते जाना। मन्दिर लौटनेपर तुम्हे श्रीगोपालजी महा-राजका प्रसाद दिया जायगा। बालकने इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया। ग्राम-भ्रमण करते हुए विमा श्रीशिवजी महाराजके हरिशंकरी चबूतरेपर प्रति वर्षव भाँति रखा गया। ग्रामीण बन्धु भजन-कीर्तन अ करने लगे। चेंपला भी अपनी टोकनी विमानके बग रखकर विमानके पीछे उसी चबूतरेपर आकर सो रहा था कुछ देर पश्चात् विमान उठा। तब जय-जयकारकी ध्वनिसे चेंपलाकी निद्रा भंग हो गयी। वह घबराकर सुषुप्त-अवस्थामें सामनेसे न उतरकर बायीं ओरको चल दिया और चबूतरेसे लगे हुए कुएँमें गिर पड़ा जो पंद्रह हाथ गहरा भरा है और इतना ही खाली है। धमाके-की आवाज सुनकर ग्रामीण दौड़े और एक गैसबत्ती तुरंत रस्सीमें बाँधकर कुएँमें लटकायी। देखते क्या हैं कि एक बालक कुएँकी ईंटें पकड़े अपने पैर चला र है। तुरंत एक आदमी रस्सेके बल कुएँमें उतरा और उस बालककी कमरमें रस्सी बाँधकर बड़ी सा उसे बाहर निकाल लाया। उस बालकके शरीर छातीसे ऊपर बिल्कुल सूखे थे। जब उससे पू कि 'तुम कैसे डूबे नहीं?' तब उसने बताया यह पता नहीं है कि 'मैं कुएँमें कब गिरा। यही ज्ञात हुआ कि अपने तालाबहीमें लार रहा हूँ

मेरे साथ वहाँ एक और बालक था जो साँवरे रंगका था और विमानमें बैठे हुए भगवान्‌के सिरपर जैसा चाँदीका मुकुट लगा है वैसा ही-उसके भी सिरपर धारण किया हुआ था, जो बहुत चमकीला था और उससे कुएँभर-में उजियाला दिखायी दे रहा था। उसने मुझे अपने हाथोंसे पानीके ऊपर सँभाल रखा था। फिर उसने मुझे समझाया कि 'तुम घबराना मत'। इतना कहकर उसने अपने हाथोंसे मेरे हाथ पकड़कर कुएँकी ईंटें पकड़ा दीं ... जब ऊपरसे लालटेन आयी, तब वह न जाने कहाँ ... गया।" चैंपलाके मुखसे यह सब बातें सुनकर ... सब लोग अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् श्रीगोपाल-जीकी जय-जयकार करने लगे और सोचने लगे कि भगवान्‌की चढ़ोतरीकी टोकनी थोड़ी देर लिये रहनेपर ही भगवान्‌ने चेंपलाको कुएँमें दर्शन दे दिये। तत्पश्चात् ...पला प्रसन्नतापूर्वक अपने घर चला गया। बोलिये ...ावर गोविन्दकी जय।

—मूलचन्द्र त्रिपाठी

(४)

...त्यु-क्षणमें राम-नाम तथा अन्त मति सो गति

घटना आजसे ३० वर्ष पूर्वकी है। घटनाका प्रत्यक्ष ...वेवरण सुनानेवाले ठाकुर शिवनाथसिंहजी हैं। ठाकुर साहब आज ५३ वर्षके हैं। वे स्वस्थ और हृष्टपुष्ट हैं। भगवान्‌की दयासे कई बच्चोंके पिता हैं। वे मध्यप्रदेश-के जिला राजगढ़के बागरयाखेड़ी ग्रामके निवासी हैं। उन्होंने अपने जीवनका जो विवरण इन पंक्तियोंके लेखकको सुनाया, वह उनके शब्दोंमें इस प्रकार है—

२३ वर्षकी अवस्थातक मेरा विवाह नहीं हुआ था। मेरे पिताजी मुझे बचपनमें ही छोड़ चल बसे थे ...ाजी अवश्य थीं। जीवनका क्रम बड़ी शान्तिसे ... था। मुझे रामचरितमानससे बड़ा प्रेम है। ... अवस्थामें जिला राजगढ़ (मध्यप्रदेश) के ... शैलापानीको गया। वहाँ एक ठाकुर साहब ...रते थे। उनसे मेरा प्रेमभाव था। अचानक मुझे ज्वर हो आया। साधारणतया यही समझा गया कि ज्वर शीघ्र उतर जायगा; पर ज्वर बढ़ता ही गया। शरीरका तापक्रम १०२ अंश रहने लगा। उस ग्रामके एक वैद्यजीने बताया कि यह तो मोतीझला है। मैं उसी ज्वर-दशामें अपने घर आ गया। घरपर मेरे दो ज्येष्ठ भ्राता थे। सब मिल-जुलकर ही रहते थे। पर ज्वरकी दशामें मुझे संदेह होने लगा कि ये दोनों भाई मुझे मार डालेंगे। अतएव मैंने उनके द्वारा दिया जानेवाला जल स्वीकार करना बंद कर दिया। मैं सोचने लगा कि जलके माध्यमसे ही मुझे विष दिया जायगा। इतना ही नहीं, मैं उनके हाथसे दवा भी नहीं लेता। इस प्रकार मेरी रुग्णता चलती रही।

मेरा ग्रामवालोंसे तथा समीपस्थ ग्रामवासियोंसे अत्यन्त प्रेमभाव था। एतदर्थ समीपस्थ ग्रामवासी भी रातके समय मुझे देखने आते और काफी राततक मेरे पास बैठे रहते। वे दिनमें तो नहीं आ सकते थे; क्योंकि उन्हें अपनी खेतीका काम देखना होता था। मेरी रुग्णता और उससे मुक्त न होनेका समाचार अनेक ग्रामोंमें फैल गया। सोचा जाने लगा कि ठाकुर साहब थोड़े दिनोंके ही मेहमान हैं।

एक दिन स्वास्थ्यमें विशेष भयंकरता आ गयी और मेरी तबीयत घबराने लगी। मैं समझ गया कि मैं आज रातको अथवा दूसरे दिन सबेरेतक अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूँगा। रातके ७ बजे अनेक व्यक्ति एकत्र हो गये और मेरी जीवन-रक्षाके सम्बन्धमें विचार-विनिमय करने लगे। जब मैंने उनके मुँहसे सुना कि अमुक डाक्टरको बुलाया जाना चाहिये, तभी मैंने जोरसे कहा—'क्यों व्यर्थकी बातें करते हो। तुम मरनेवाले-को बचा सकते हो? छिः। यदि तुम मुझे शान्तिसे मरने देना चाहते हो तो रामचरितमानसके उत्तरकाण्ड-का पाठ मुझे सुनाना आरम्भ कर दो।' लोग राम-चरितमानसकी पुस्तकें लेने दौड़ने लगे।

अचानक मैं देखता हूँ कि दो यमदूत मेरे सामने मुझसे लगभग १०-१५ गजकी दूरीपर खड़े हैं। मैं ज्वरकी दशामें जमीनपर ही लेटता था और आज भी

जमीनपर था। ज्वर वैसा ही था। घबराहट बढ़ती जा रही थी। यमदूतोंको देखते ही मैं चिल्ला उठा—'देखो, ये दो यमदूत खड़े हैं।' ये दोनों यमदूत लगभग २५ वर्षकी अवस्थावाले स्वस्थ युवक-से प्रतीत होते थे। उनका रंग नितान्त काला था। वे नंगे बदन थे। केवल नीचे एक कच्छा पहने हुए थे। कच्छेके नीचेके भागमें एक गोट-सी थी। उनके दाँत बड़े-बड़े और भयंकर थे। वे अपने दोनों हाथोंमें मुग्दरकी भाँतिके डंडे लिये हुए थे। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें बहुत डरावनी लगती थीं। मैं उनको देखकर काँप गया और मेरे मुखसे 'राम' का नाम उच्चारित होने लगा। मैं चित पड़ा हुआ 'राम' नाम जपने लगा। तबतक रामचरितमानस ग्रन्थ आ गये और लोग उत्तरकाण्डका पाठ करने लगे। मैंने देखा कि वे यमदूत एक साथ मेरी ओर बढ़ते, पर जैसे ही मैं 'राम' कहता, वे उतना ही पीछे हट जाते। इस प्रकार सारी रात मेरा राम-नाम जप चलता रहा और मानसका पाठ भी। बीच-बीचमें मैं चिल्ला उठता—'मुझे बचाओ! ये यमदूत डंडे लेकर मेरी ओर बढ़े चले आ रहे हैं।' पर लोग कहते 'कहाँ हैं?' मैं कहता—'ये दीवारसे टिके खड़े हैं।' पर लोग उन्हें नहीं देख पाते। कुछने दीवारके सहारे हाथ फेरा, तब वे कमरेकी म्यालपर चढ़ गये। मैं चिल्ला उठा—'वे म्यालपर चढ़ गये हैं।' तात्पर्य यह है कि मुझको छोड़कर और कोई उन्हें नहीं देख सका। सवेरेतक जप करते हुए मुझे थकानके कारण थोड़ी देरके लिये नींद-सी आ गयी। मानसका पाठ करनेवाले व्यक्ति भी अपने-अपने घरोंको चले गये थे। मेरे पास मेरे दो भाई और मेरी माता बैठे रहे। जैसे ही मेरी आँखें झँपी, मेरा 'राम' नाम कहना बंद हो गया। बस, क्या था दोनों यमदूत उचककर मेरी छातीपर आ बैठे। मैं अचेत हो गया। वे मुझे विकराल रूपमें दबाने लगे। मुझे अनुभव हुआ कि मेरे प्राण कण्ठतक आ गये हैं। इसी क्षण मैं सोचने लगा कि 'मरनेके बाद मैं तीतर बनूँगा।' जमीनपर तो मैं था ही। आँखें बंद थीं ही। मेरी ऐहिक-लीला समाप्त हो गयी। मेरे शरीरको ढक दिया गया और अन्तिम संस्कारकी तैयारियाँ आदि होने लगीं। रोना-गाना भी मुझे अचेतनरूपमें सुनायी दे रहा था।

मुझे लगा—'मैं तीतर हो गया हूँ। उड़कर मैं जंगलमें अन्य तीतरोंके साथ जा बैठा। उसी समय साँसी नामकी जातिके लोगोंने (जो बहुधा डाका डाला करते हैं) मुझे अन्य तीतरोंके साथ पकड़ लिया। उनके साथ एक बुढ़िया भी थी। मैं बुढ़ियाकी रस्सीमें बँधा था। इसी समय अचानक उन साँसियोंको पकड़नेके लिये पुलिस आ गयी। साँसी रस्सीमें बँधे तीतर लेकर भाग खड़े हुए। बुढ़िया भी जंगलकी ओर भागकर एक झाड़ीमें जा छिपी। पुलिसका लक्ष्य पुरुषोंको पकड़नेका था। अतएव बुढ़ियाकी ओर कम ही ध्यान दिया गया। जब पुलिसके सिपाही चले गये, तब बुढ़ियाने अपनी क्षुधा शान्त करनेके लिये तीतरोंकी ओर आँख दौड़ायी। रस्सीके ऊपरी भागपर मैं ही था। इसलिये मैं ही क्षुधा-तृप्ति-साधन बननेके लिये रस्सीसे निकाल लिया गया। बुढ़ियाने लकड़ियोंसे अग्नि प्रज्वलित की। फिर उसने मेरे शरीरके पंख नोचे और मुझे जलती आगमें भून डाला। मेरी वह जीवन-लीला भी समाप्त हो गयी। अब मुझे लगा कि मैं घरकी ओर भागता आ रहा हूँ और मैं अपने घरमें कम्बलसे ढँके हुए शरीरमें जा पहुँचा। यह सारा कार्य मेरे मरनेसे लेकर आध घंटेमें ही हो गया। मेरे घरपर मेरी अर्थी तैयार की जा रही थी। मैं अर्थीपर कसा जानेवाला ही था कि मेरे मुखसे निकला—'राम'। मेरे भाई [illegible] पड़े 'भैयाको देखो'! वे सभी 'राम' कह रहे थे [illegible] एकत्र हो गये। कम्बल हटाया गया। मैं आँखें [illegible] पड़ा था। मैं रामका नाम अधिक उच्च स्वरसे [illegible] लगा—लोगोंने कहा 'भैया, अभी कहाँ चले गये थे' [illegible] मैंने कुछ भी नहीं बताया और केवल यह कह दिया

कि बादमें बतायेंगे। लोगोंने मेरे शरीरपर हाथ रखकर देखा कि मेरा ज्वर बिल्कुल उतर गया है। मैं पूर्ण स्वस्थताका अनुभव कर रहा था।

कुछ दिनों बाद मैंने अपने सम्बन्धियों और मित्रोंको यह घटना सुनायी और यही कहा—'अन्त मति सो गति।' मैंने यह भी अनुभव किया कि 'राम' नाम जपके प्रभावसे यमदूत भी पास नहीं फटकते।

उस घटनाके बादसे मेरा जप बढ़ता ही गया और आज ५३ वर्षकी अवस्थापर मैं पूर्ण स्वस्थ और हृष्टपुष्ट हूँ। पर भगवान्के प्रति मेरा विश्वास बढ़ता ही जा रहा है।

मेरे जीवनकी इस घटनासे आध्यात्मिक निष्कर्ष निकालनेका काम मेरा नहीं है। वह तो विद्वानोंका है। देखें विद्वज्जन क्या सार निकालते हैं। मुझे हर्ष होगा यदि मैं भी अपने विषयमें कुछ जान सकूँगा।

—भगवानदास झा 'विमल'

(एम्० ए०, बी—एस० सी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

(५)

सरकारी कर्मचारी भी मनुष्य हैं

बीसावदर स्टेशनसे गाड़ी छूटने ही वाली थी। इंजिनकी सीटी बज चुकी थी। गार्डने झंडी भी दिखा दी थी। इतनेमें ही लगभग आठ-दस ग्रामीणोंका एक दल गार्ड महोदयके पास पहुँचा। सहृदय गार्डने लाल झंडी दिखायी। गाड़ी अभी चली नहीं थी, रुक गयी। ये लोग मजदूर-जैसे दिखायी देते थे। इनमेंसे एकने गार्डके समीप आकर बड़ी ही नम्रताके साथ कहा—'साहेब, हमलोग मजदूरी करने जा रहे हैं। गाँवमें हमको रोटी नहीं मिलती। जब भूखों मरते-मरते मरनेकी नौबत आ गयी, तब हमलोग घरसे निकले हैं। हमारे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। गाड़ीमें बैठे बिना आज काम मिलेगा नहीं। तुम दया करके हमलोगोंको ऐसे ही बैठने दो तो हम सब, हमारा सारा परिवार, स्त्री-बच्चे सब तुमको असीस देंगे।'

गार्डने कहा—परंतु तुमलोगोंको मुफ्त बैठाता हूँ तो मुझे सरकारका अपराधी बनना पड़ता है। तुम्हें कहाँ जाना है?

उसने कहा—साहेब! तुम भरोसा रखो, हम जानते हैं तुम सरकारी आदमी हो, सरकारी कानूनको तोड़कर हमारी मदद नहीं कर सकते, हमें मजदूरीके पैसे मिलेंगे, तब सबसे पहले हम तुम्हारी टिकटके पैसे पहुँचा देंगे। साहब! रहम करो, हमलोग बहुत दबे आदमी हैं।

वह यों कह ही रहा था कि सबकी आँखोंसे आँसू झर पड़े। गार्डका हृदय पिघला, उन्होंने फिर पूछा—'तुम्हें कहाँ जाना है?'

उसने कहा—'साहब! जूनागढ़ जाना है परंतु·······' वह फिर रो पड़ा।

पाँच ही मिनटमें यह सब हो गया। गार्डने अपनी जेबसे दस-दस रुपयेके दो नोट निकालकर उस ग्रामीणको दिये और कहा—'भाई! मैं भी तुम्हारी ही तरह एक साधारण नौकरी-पेशा आदमी हूँ। मेरे भी स्त्री-बच्चे हैं। भगवान्के खाते लिखकर तुम्हें यह पैसे दे रहा हूँ। सरकारी कर्मचारी होकर सरकारी कानूनको भंग नहीं कर सकता। तथापि तुम्हारी हालत देखकर, मुझे यह भूलना नहीं चाहिये कि मैं भी मनुष्य हूँ। अतएव अभी तो मैं अपनी जेबसे पैसे दे रहा हूँ। इस कागजपर मेरा नाम-पता लिखा है। किसी दिन तुम्हारे सबके हाथमें पैसे आ जायँ और तुम भगवान्को मानते होओ तो लौटा देना, नहीं तो कोई बात नहीं।'

इसके बाद सीटी बजा दी, हरी झंडी दिखायी और गाड़ी चल दी। इस बीचमें वे मजदूर टिकट लेकर गाड़ीपर चढ़ गये थे। (अखण्ड आनन्द)

—रवि वोरा

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क

संक्षिप्त श्रीमद्देवी-भागवताङ्क

(१) यह 'कल्याण' का ३३ वें वर्षका ११ वाँ अङ्क है। १२ वाँ अङ्क प्रकाशित होनेपर वर्ष पूरा हो जायगा। विशेषाङ्ककी छपाई हो रही है। इस महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्कमें भी लगभग ७०० पृष्ठोंकी ठोस सामग्री रहेगी। श्रीदुर्गाजी, श्रीमहाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, श्रीकृष्ण, श्रीराधा, भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर आदिके भावपूर्ण सुन्दर बहुरंगे, सादे तथा रेखाचित्र रहेंगे। इस अङ्कमें सभीके लिये यथायोग्य उपयोगी तथा जीवनको उच्च स्तरपर उठानेवाली एवं स्वार्थ-परमार्थ दोनोंको सिद्ध करनेवाली सामग्री होगी। कथा-भाग अधिक होनेसे अङ्क सर्वथा रोचक भी होगा।

(२) कागजोंका मूल्य तथा सभी प्रकारका व्यय अत्यन्त बढ़ जानेपर भी इसका मूल्य वही ७.५० ही रखा गया है। अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत नये आर्डरद्वारा ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपये भेजकर अपना नाम लिखवा लेना चाहिये। पुराण-ग्रन्थोंकी यों ही बहुत माँग है, फिर, यह ग्रन्थ तो केवल देवी-उपासकोंके ही नहीं, शैव-वैष्णव सभीके कामका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः शीघ्र ही समाप्त हो जानेकी सम्भावना है।

(३) रुपये भेजनेके समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिख दें और नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये। केवल विशेषाङ्कका मूल्य भी ७.५० है, अतएव पूरे वर्षके लिये ग्राहक बननेमें ही सुविधा है।

(४ जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे 'कल्याण-कार्यालय'को वी०पी० के डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

(५) गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग, 'महाभारत' विभाग, 'कल्याणकल्पतरु' विभाग 'कल्याण'से अलग है। अतः पुस्तकोंके, महाभारतके तथा कल्पतरुके लिये उन-उनके मैनेजरके नामसे आर्डर या रुपये अलग-अलग भेजें।

(६) जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो, वे १.२५ (सवा रुपया) अधिक यानी ८.७५ भेजें।

(७) इस अङ्कमें लेख प्रायः नहीं जायँगे, इसलिये कोई महानुभाव लेख या कविता इसके लिये कृपया न भेजें।

(८) देशमें इस समय सदाचार, कर्तव्यपरायणता, लोक-परलोकके लाभ तथा भयकी सम्भावनाका रहस्य, भक्ति, ज्ञान और सच्चे वैराग्य, निष्काम भाव आदिको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। केवल बाह्य भोगोंकी ओर दौड़नेवाले तथा बाह्य साधनोंमें ही संलग्न

रहनेवाले जगत्‌को भगवान्‌की ओर तथा पवित्र आभ्यन्तरिक साधनोंकी ओर मोड़नेकी बड़ी आवश्यकता है। इस कार्यमें इस अङ्कसे बहुत सहायता मिलनेकी सम्भावना है। अतएव सभी कृपालु ग्राहकों-अनुग्राहकों तथा पाठक-पाठिकाओंसे सादर अनुरोध है कि वे इसके कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बनानेकी यथासाध्य भरपूर चेष्टा करें। यह सच्ची मानव-सेवा होगी।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मिथ्यावादियोंसे सावधान

हमें कई स्थानोंसे सूचना मिली है कि कोई एक मनुष्य 'श्रीचक्र'के द्वारा लिखित 'कल्याण' में प्रकाशित होनेवाली कहानियोंके लेखक अपनेको बतलाते हैं और 'तुलसी-स्मारक-कोष' के लिये चंदा संग्रह करते हैं। उन्होंने कहीं-कहीं अपना नाम 'श्रीमोहनप्रसाद चक्र' बताया है। इस सम्बन्धमें यह निवेदन है कि 'तुलसी-स्मारक-कोष' से उनका क्या सम्बन्ध है, इसका तो हमें पता नहीं, परंतु 'कल्याण' तथा गीताप्रेससे उनका न तो किसी प्रकारका कोई सम्बन्ध ही है, न हम ऐसे किसी व्यक्तिको जानते ही हैं और न वे 'कल्याण' के कहानी-लेखक ही हैं। 'कल्याण'में 'चक्र'के नामसे कहानी लिखनेवाले सज्जन 'श्रीसुदर्शनसिंहजी' हैं। वे पहले यहीं थे। आजकल वृन्दावनमें हैं। अतएव अपनेको इन कहानियोंके लेखक बतलानेवाले उपर्युक्त व्यक्ति सर्वथा मिथ्यावादी हैं। ऐसे लोगोंसे सावधान रहना चाहिये।

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६० ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द .६२, बढ़िया जिल्द .७५।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्‌की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, विनय, सर्वोत्तम कर्त्तव्य, श्रीरामका प्रजाको उपदेश, नित्य काममें लानेकी बातें, भगवान् श्रीकृष्णका उद्धवको उपदेश, प्रार्थना, सात बातें (भगवान्—भोग), आरती तथा दैनिक वेतन और मकानभाड़ा चुकानेके नक्शेके साथ-साथ रेल, डाक, तार, इन्कमटैक्स, सुपरटैक्स, मृत्युकर तथा पुराने पैसेकी नये पैसेमें परिवर्तन-सारणी, मेट्रिक प्रणालीके नये माप, तौल आदि सूचनाएँ और माप-तौलकी सूची, घरेलू ओषधियाँ तथा स्वास्थ्यरक्षाके सप्तसूत्र दिये गये हैं।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १.३७, दोके लिये २.२०, तीनके लिये ३.००, छःके लिये ५.३७ तथा बारहके लिये १०.१२ तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १.५६, दोके लिये २.५०, तीनके लिये ३.५०, छःके लिये ६.३७ और बारहके लिये १२.०० भेजना चाहिये।

☞ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। यहाँ आर्डर देनेके पहले सभी पुस्तकें अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपका समय और पैसे बच सकते हैं।

विक्रम-संवत् २०१७ का गीता-पञ्चाङ्ग

काशीके प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पं० श्रीसीतारामजी झाने तैयार करके प्रेसमें छपनेके लिये दे दिया है। तैयार हो जानेपर उसकी सूचना प्रकाशित की जा सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)